प्रगति की राह

प्रगति की राह

(विचार-प्रधान उपन्यास)

गोविन्द वल्लभ पंत

रा ज क म ल प्र का श न

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

जड़ता मृत्यु का लक्षण है; प्रगति मानव-जीवन का स्वभाव—चैतन्य का एक-मात्र प्रमाण। किन्तु जहाँ प्रगति की प्रेरणा मानव-मस्तिष्क के लिए प्रकृति की स्वाभाविक देन है, वहाँ प्रगति की दिशा उसके लिए एक गम्भीर पहेली है। अनेकों प्रयत्न करने पर भी मनस्वी विचारक अब तक किसी सही राह का निर्देश न कर सके और मानव सच्ची प्रगति की खोज में इधर-उधर भटकता फिरा। इसी तरह भटकते हुए दो व्यक्तियों की यह कहानी प्रगति की राह के अन्वेषण का एक स्वल्प-सा प्रयास है।

एक

. . . .

बढ़ चलो! बढ़....चलो! बढ़ना ही युग-धर्म है, बढ़ना ही जीवन का मर्म है और बढ़ना ही कर्म की सार्थकता! बढ़ चलो, बढ़ चलो!

जिसे, जहाँ, जब, जैसे अवसर मिले, बढ़ते चलो। यदि बढ़े नहीं तो फिर जागृति कैसी? यदि बढ़े नहीं तो फिर स्वतन्त्रता किस काम की?

बढ चल हे प्रगति के प्रतीक! वनस्पतियाँ एक स्थान मे स्थिर होने पर भी तो आकाश की शाखाओं और पाताल की जड़ो मे बढ़ रही है, फिर सृष्टि के सर्वोत्तम चैतन्य! तू क्यों इतना जड़ हो गया? चल, बढ़ते चल! दिन-रात बढ़ते चल। रात को अँधेरा है, तो बिजली का बटन दबा और बढ़ते चल! दिन में कुछ अधिक उत्साह है तो दौड़कर चल यानों मे, उड़कर चल विमानो में!

तू मील के पत्थर की निर्जीवता नही है, तू पथ भी नहीं है—भूपतित और दलित पड़ा हुआ है और झूठे ही कह दिया जाता है कि तू स्पन्दन है, तू गति है और तू वेग है। चल, बढ़ चल!

बाधाएँ, नीतिज्ञों के बनाए हुए ढकोसले; अन्धकार, उपदेशकों का उपजाया हुआ भ्रम, और भूत-प्रेत, धर्माध्यक्षो का गढ़ा हुआ भय! बढ़ चल! काँटा तेरे पैर से कुचल जायगा और ठोकरें तेरी मार्गदर्शिका बन जायँगी। चल—एक-एक पग बढ़ता हुआ और एक-एक सरणि चढ़ता हुआ!

लछमियाँ भी बढ चला। सरल सन्तोष की प्रतिमूर्ति एक पहाडी किसान का बेटा लछमियाँ भी बढ़ चला। माता की गोद से डलिया पर आया। डलिया से धरती पर ढुलकने लगा, सरकने लगा, घुटनों के बल चलने लगा, माता-पिता की उँगलियाँ पकडकर चलने लगा, सहारा भी छोड दिया, दौडने लगा।

घर के बाहर आया, आँगन मे दौडने-फिरने लगा और माता की दृष्टि की परिधि काटकर उसके बाहर चला गया।

लछमियाँ बढ चला! पहाड पर के पाँच कँटीले हेमन्त पछाड कर रख दिये उसने। वह छठे की ओर बढ़ने लगा।

दिन-भर पास-पडौस मे उपद्रव मचाता। कभी किसी के बच्चे के हाथ की गुड-रोटी छीनकर भागता, कभी किसी के बाल नोच देता, कभी किसी को चाँटा मारकर रुला देता और कभी किसी को दाँत से काट रक्त बहा देता।

बिना किसी उपयोग के पडौसियो के साग-भाजियों की छोटी पौध उखाडकर फेंक देता। न किसी के खीरे की बेल में कोई खीरा बढ़ पाता और न किसी के मक्के की बाल मे दाने पड़ पाते। न नारंगी के पेड पर नारंगी पक पाती, न दाडिमी के पेड पर दाड़िमी।

ऐसा उपद्रवी लडका कोई देखा ही नहीं गया था उस मंडल-भर मे। माता-पिता विवश हो गए थे। पास-पडौसियो के आक्षेप-उलाहनों से उनके कान पक गए थे। बहुत उसे मारा-पीटा, बिच्छू के भी सडाके दिये और 'तानू' गरम कर भी उसे दागा, परन्तु लछमियाँ न माना—वह तो इस्पात हो गया। कहना-सुनना, उपदेश-आग्रह उस गरम तवे पर पानी के छींटे थे। मार-पीट का भय भी जीत लिया उसने। लछमियाँ बढ चला। मार-पीट की स्वाभाविकता और अनुक्रम ने उसके साहस को भी बढा दिया था, उसके हाड-माँस मे भी दृढ़ता उपजा दी थी।

एक दिन लछमियाँ का पिता उसे पेड से बाँधकर पीट रहा था। रो-रोकर अपनी चिघाड़ से उसने सारा आकाश अपने सिर पर उठा

रखा था। माता खेतो पर गई थी। लछमियाँ की उद्दण्डता पर सभी पड़ौसी उसके पिटने मे दयित हो बीच-बचाव के लिए खिंचते न थे।

पिता के अबाध क्रोध ने एक चाँटा और खींचकर मारा उसके। लछमियाँ चिल्ला उठा—"अर बाप रे, मार डाला रे! अरे खिमका रे! तू तो देख रहा है। छुडाने क्यो नही आता?"

खिमका कुछ दूर पर एक दीवार के मोड पर घास काट रहा था। चुपचाप खिसक गया ओट मे। छुड़ाने जायगा खिमका? पडी है उसे बडी! वह लडका, वह उसका बाप। भूख के समय खाने को भी देगा और मार के समय क्यो नही पीटेगा। खूब पीटेगा, ऐसा चाण्डाल लडका दूसरा और कोई है भी इस घाटी-भर में?

पिता ने फिर मारा—"चुप! कह, अब से न करूँगा।"

फिर चिल्लाया वह—"मैने क्या किया है? अच्छा खिमका, छिप गया तू! खोल दो, मेरी पसली दुख गई!"

एकादशी के व्रत को परिपूर्णता देने के लिए गाँव के पण्डितजी राख से पॉलिश किया हुआ चमचमाता पीतल का रिक्त लोटा एक हाथ से पीठ पर लटकाये आ पहुंचे। लछमियाँ के धीरज की साँस खिंची।

"हें, हैं, क्या हो गया तुम्हे? इसका रोना सुनकर ही इधर खिंच आया हूँ मै।"

"बडा बदमाश हो गया है यह, महाराज क्या करूँ? हाथ जोड़ता हूँ, पैर पडता हूँ इसके, मानता ही नहीं।"

पण्डित जी ने किसान की दृष्टि मे ही नहीं चमका दिया उस लोटे को, पत्थर की दीवार मे उसे 'खट' से रखते हुए उसके कान भी बजा दिए और लगे उस बालक के बन्धन खोलने—"बडी कसकर गाँठ बाँध दी है तुमने।"

जब उनसे गाँठ न खुली तो किसान हँस पडा—"बस, हो गया?"

"व्रती हूं आज एकादशी का।" कहकर उन्होंने अपने रिक्त लोटे

पर उस किसान की दृष्टि खींचनी चाही—"मार-पीट से कुछ नहीं होता, लडका और भी बिगड़ जाता है।"

"फिर क्या करूँ ?"

"गाँव के स्कूल मे भेजो, वह और किसलिए खोला है सरकार ने ?"

"पढ-लिख जायगा यह ?" आशान्वित किसान ने पूछा।

"क्यों नहीं ? पढ़ने-लिखने की जगह है वह। संगति मिलेगी। बेसिक पास कर आए हैं पण्डितजी। मेरे ही साढ़ू तो हैं, बड़े होशियार है।"

"सुना तो है मैने भी, परन्तु यह बेसिख के कैसे पण्डितजी हैं; और फिर यह तुम्हारे साढू हो गए क्योंकर ?" भोले किसान ने पूछा।

"तुम्हारा संशय क्यों बढ गया ?"

"बेसिख और पण्डितजी के जोड़ से। जिसके सिखा होती है, वही तो पण्डित होता है।"

पण्डितजी हँसकर बोले—"यह शब्द बेसिख थोड़े है, बेसिक है। बेसिक का अर्थ है मूलक।"

"वह भी तो जड ही है। जड़ कहो या चोटी ? आकाश में हुई तो चोटी, भूमि के भीतर हुई तो जड !"

पंडितजी ने भी अपनी संस्कृत की धाक जमाई—"कहते तो ठीक हो। गीता मे भी लिखा है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाख !' बेसिक एक शिक्षा की नई पद्धति है, जिसमे कम-से-कम परिश्रम से विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक उपयोगी बना दिया जाता है।"

"कम-से-कम परिश्रम किसका, पढ़ने वाले का या पढ़ाने वाले का ?"

पंडितजी हँसकर बोले—"दोनों का।"

पेड पर बँधा लछमियाँ, दंड के एक रूप में बाधा पड़ जाने से दूसरे को चुपचाप सहन करता हुआ उन दोनों की बातें सुनने लगा। स्कूल तक कभी-कभी हो आता है वह। पंडितजी ने लड़कों के साथ स्कूल की दीवार मे कई रंगों से बेल-बूटे बनाये है। रेल और मोटर के चित्र

वह पहले वहीं देख आया था। दीवारो पर चारो ओर कुछ लिखा भी है पंडितजी ने, वह तो नहीं समझ सका लछमियाँ, पर किसी को पढ़ते हुए सुना उसने, उस लेख का एक अंश था—"बढ़ चलो।"

भूमि पर कुछ चूने और गेरू से रँगे पत्थरो से पंडितजी ने स्कूल के पथ के दोनों किनारे चमका रखे थे और बीच मे उन्हीं से रेखागणित की कुछ आकृतियाँ बना रखी थीं। आकृतियों के बीच मे कुछ फूल के पेड़ लगा रखे थे। एक दिन लछमियाँ फुलवाड़ी और पथ के पेड़ और पत्थरों को जाकर अस्त-व्यस्त कर आया था, पर स्कूल की दीवार पर बडे परिश्रम से अंकित किये गए रेल और मोटर के चित्र न मिटा सका वह। रेल और मोटर के वे कौतूहल-भरे शब्द जो गाँव के भीतर उसमे एक अद्भुत आकांक्षा उपजाते थे, स्कूल की दीवार ने उन्हें उसकी आँखो में उभार दिया। स्कूल ने जो रंग पहने थे, उनकी ओर लछमियाँ आकर्षित हो गया। वह मनोयोग से पिता और पंडित जी का स्कूल-सम्बन्धी संवाद सुनने लगा।

किसान बोला—"परन्तु मैने तो यह सुना है, इन नये पंडित जी की लाठी छीनकर कचहरी मे जमा कर ली गई है। इन्हे बालकों को मारने-पीटने का हुक्म नहीं रहा।"

"यही तो मैं भी कहता हूँ। मारने-पीटने का युग चला गया। लाठी बालक के भीतर भय उत्पन्न कर उसे बोदा और निकम्मा कर देती है।"

"और मैं समझे हूँ जिसकी लाठी उसकी भैंस। लाठी से भय, भय से प्रीत। नया जमाना है, ठीक हो जायगा यह स्कूल जाकर?"

"अवश्यमेव! क्यों रे, स्कूल जायगा?" पंडितजी ने लछमियाँ से पूछा।

आँसू सूख गए थे उसके गालों पर और सिसकियाँ खिल पड़ी थीं उसकी मुसकान में। उत्तर दिया उसने—"हाँ जाऊँगा।"

पिता ने फिर पूछा—"जायगा?"

"जाऊँगा तो कह रहा हूँ।"

"विद्या पढ़ेगा ?"

"हाँ,हाँ पढ़ूँगा। खोल तो दो।"

पंडितजी बोले—"खोल देते क्यो नहीं ?"

पिता ने लछमियाँ को खोल दिया। वह खड़ा रहा वहीं पर, कुछ देर हाथ-पैर और पीठ को मलता हुआ।

"शास्त्रों मे लिखा है—" पंडित जी ने शास्त्र की गठरी खोली, "जो अपने पुत्र को पढाता-लिखाता नही, वह पिता बैरी है अपनी सन्तान का।"

"हम क्या स्कूल ही गए थे ? लेकिन काम करना तो सीखा, यह तो उपद्रव करता है दिन-भर। दूसरो के किये हुए काम को बिगाड़ता रहता है। कम-से-कम चार-पॉच घंटे बन्धन मे तो रहेगा। हम निश्चिन्त होकर घर छोड सकेंगे और पडौसी बेखटके खेतो पर काम करेंगे।"

दूर पर एक गाय खेत मे जाने लगी थी। लछमियाँ के हाथ अवसर आया। एक पत्थर उठाकर वह गाय की ओर "हऽऽट ! हऽऽट !" कहता हुआ बढ़ गया।

पंडितजी ने रिक्त लोटा उठा लिया—"कल इतवार, परसों को भरती कर आओ इसे। मैं कह दूँगा पंडितजी से आज ही।" उन्होने जाने का उपक्रम करते हुए कहा—"दिन-भर एकादशी का व्रत किया है। कुछ घुइयाँ दे आया हूँ उबालने के लिए और लोटा लेकर चला हूँ कुछ·····"

पंडितजी को भरोसा था वह उनका अधूरा वाक्य ही उनके शून्य लोटे की हवा निकाल उसको भी भर देगा, परन्तु वह किसान मुँह ताकता ही चुप खडा रह गया।

बाध्य होकर फिर पंडितजी को ही कहना पड़ा—"इस लोटे में कुछ दूध तो दे दो।"

"कुछ क्या पंडितजी, सारा लोटा भर देता, इसी का तो रोना

रो रहा था; चूल्हे में आग जलाकर कढाई-भर दूध की रबड़ी घोटकर पी गया यह लछमियाँ। कहाँ गया ? फिर आँख मे धूल डालकर किधर चला गया ?"

निराश होकर पंडितजी लौट गए। मन में सोचते जाते थे—"बडा दुष्ट लडका है और कितना चालाक है यह ! पेट नहीं बढ़ सकता था उसका, परन्तु उसने दूध को रबडी में सिकोड़ लिया। कढाई-भर दूध ! छोटी कढाई भी होगी तो इस लोटे से दो लोटे दूध तो आता ही होगा उसमे। व्यर्थ ही खुलवा दिया दुष्ट को। स्कूल मे भरती हो गया तो कदाचित् अगली एकादशी को भर जायगा लोटा।"

सोमवार के दिन पिता पुत्र का हाथ पकडकर ले चले स्कूल को। लाल-पीली मिट्टियो के रंग और खडिया-चूने की उज्वलता मे चमक उठा वह बेसिक स्कूल दूर ही से। उसी रंग और रेखा के फेर मे पड़ा हुआ वह ऊधमी बालक चला जा रहा था स्कूल को।

स्कूल की रूखी दीवारों मे क्या आकर्षण था ? मूलकता आकर्षण की ही तो है—वही चेतना का स्वभाव है। स्वर्ण ने उसी आकर्षण से अपना मूल्य बढा रखा है और मनुष्य को दौड में अन्धा बना दिया है। फूलों ने मोहकता में तितलियो मे गति दे रखी है। सूर्य ने अपने प्रकाश से सारे सौर जगत को अपनी परिक्रमा मे चकरा दिया है।

चूना पोतकर वह दीवार दृढ हो गई होगी, परन्तु उसमें कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ था। बहुत-से चंट बालक जेल से अधिक महत्त्व नहीं देते थे उस स्कूल को और कदाचित् हमारे शिक्षण की दुर्बलता ने हमारे बहुत-से बालकों को समाज के अशुद्ध नमूनों में बदल दिया था।

जिस नवीन मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर हमारी शिक्षा-पद्धति बढ़ चली है, उसका नव प्रवेश उसकी दुर्बलता हो सकती है, परन्तु संस्कार पा लेने पर उसका भविष्य उज्वल है।

बहुधा हमारे शिक्षकों का लक्ष्य रहता है महीने की समाप्ति और

वेतन की प्राप्ति; तथा छात्रों का उद्देश्य रहता है परीक्षा की समाप्ति और सरकारी नौकरी की प्राप्ति। हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक आरम्भिक स्कूलों का शिक्षक है। आर्थिक कष्टों की चिन्ता-मुक्ति के बिना उसकी सेवा-भावना पवित्र नहीं हो सकती। बिना उसके पवित्र हुए न छात्रों की मानसिकता आगे बढ़ सकती है न देश की नागरिकता ही।

पिता-पुत्र दोनों स्कूल में पहुँच गए। लछमियाँ ने देखा उसके उलट-पलट दिये रँगे हुए पत्थर फिर यथास्थान सजा दिये गए थे। स्कूल के प्रति उसका मोह जाग उठा। मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा की "अब न कोई बिगाड करूँगा स्कूल का।"

पिता को कभी स्कूल आने का न अवकाश ही मिला था न निमंत्रण ही। सब लडके हाथ जोडकर खडे थे, सामने एक ऊँचाई पर पंडित जी भी। सब मिलकर प्रार्थना कर रहे थे भगवान की। एक कोने में किसान भी प्रार्थना की समाप्ति तक हाथ जोडे खड़ा रहा।

सब लड़के पंडितजी की आज्ञा पा पंक्ति बाँधकर स्कूल के भीतर प्रविष्ट हो गए। पिता ने पंडित जी को प्रणाम किया।

"क्या है ?" पंडितजी ने पूछा।

"महाराज, इस छोकरे को भी अपनी शरण में रख लीजिए।" कहकर उस किसान ने अपनी जेब से एक मुड़ा हुआ पत्ता निकाला, उसमें कुछ रोली और अक्षत थे। अँगूठे में रोली लेकर वह पंडितजी की ओर बढ़ा।

पंडितजी पीछे की ओर हटने लगे—"क्या है यह ?"

"हमारी प्राचीन प्रथा महाराज। आपने जिस प्रकार स्कूल की दीवारों को रंगों से सचित्र और पवित्र किया है, ऐसे ही मैं भी आपको पूजा देता हूँ। यह सनातन प्रथा है। इसमें क्या संकोच ?"

पंडितजी ने माथा दे दिया। किसान ने उसमें दो बार नीचे से ऊपर को एक रेखा में अपने अँगूठे से रोली का अंक भर दिया। बीच में कुछ अक्षत चिपका दिए। फिर हाथ जोड़कर पंडितजी को एक चाँदी

का रुपया साबुन सुपारी के सहित देने लगा।

"यह क्या है ?"

"दक्षिणा।"

"नहीं।"

"क्यों नहीं ? गन्धाक्षत जो किया है आपके ?"

"स्कूल मे नहीं माना जाता गन्धाक्षत।"

"फिर यह दीवारो पर आपने जो रंग दिये हैं।"

"रंग लगा तो चुके हो। दक्षिणा की आज्ञा नहीं है बिना रसीद दिये।"

"रसीद दे देना फिर, रख लो अपने-आप आई हुई लक्ष्मी नहीं लौटाई जाती।"

"जब भरती करूँगा तभी लूँगा, रखो अभी।"

पंडितजी की उस निस्पृहता से मोहित हो गया वह किसान। रुपया-सुपारी जेब मे रखकर बोला—"धन्य है आप पंडितजी, आपने स्कूल का दूकानदारीपन दूर कर उसमें ईश्वर भी मिला दिया, गीत भी जोड लिये और रग भरकर उसे विद्या-मन्दिर बना दिया। धन्य है आप ! इसे भी पढ़ा-लिखा देंगे आप ?"

"मनुष्य पढ़ जाने के लिए उत्पन्न हुआ है। ठीक तरह से पढाया जाय तो सभी पढ़-लिख सकते हैं।"

"नटखट लडके भी भरती किये हैं आपने ? वह क्या पढ़-लिख भी गए हैं ?"

"नटखट वास्तव मे लडके होते नही है, बना दिए जाते हैं, कभी माता-पिता के बहुत ढील छोड देने से या कभी बहुत नियंत्रण रख देने से।"

"आप न बहुत ढील छोड़ते है और न बहुत कसकर ही रखते हैं ?"

"हाँ, यही बात है। दोष प्राचीन पद्धति का था। वह विद्यार्थी के

मन को रस्सी से बलपूर्वक खूँटे से बाँध देता था जिससे वह विद्रोही हो जाता था।"

"और आप क्या करते है ?"

"विद्यार्थी के आँख और कान, उसको बहकाने वाले उसके शत्रु इन्हीं दो द्वारों से उसके पास आते है। हम सबसे पहले उन्हीं को बन्द कर देते है। आँखो को ढकते है रंग से और कानो मे भर देते हैं राग।"

"धन्य हो पंडितजी आप तो; सुन रहा है रे लछमियाँ तू ?"

"बाहरी प्रभाव से मुक्त होकर उसका मन हमारे वश मे आ जाता है और फिर हम उसमे अक्षर और अंक दोनो अच्छे प्रकार जमा देते हैं।"

"बस, ऐसे ही इसे भी सिखा दो महाराज।"

'क्या नाम है इसका ?"

"लछमियाँ।"

"कुछ जानता भी है ?"

"जानने को तो बहुत जानता है, पर वह सब शायद आपके स्कूल मे काम न आ सकेगा।"

"मेरा मतलब है कुछ पढ़ता-लिखता भी है ?"

"नहीं महाराज, काला अक्षर भैंस बराबर।"

"अच्छा, दरजे मे बिठा दो इसे। पहली तारीख को नाम लिख दिया जायगा इसका।"

पिता ने लछमियाँ को दरजे में बिठा दिया और कुछ सोचता हुआ घर को जाने लगा। कुछ दूर जाने पर ही वह पंडितजी के पास लौट आया।

पंडितजी पढ़ाने लग गए थे। किसान ने बाहर खड़े होकर उन्हें बुलाने का संकेत किया।

"क्या है ?" पंडितजी ने कुछ रुखाई से कहा।

"बड़ा जरूरी काम है, यहाँ आइए।"

'हर प्रकार की मनोवृत्ति से व्यवहार रखना पडेगा,' सोचते हुए पंडितजी बाहर आये।

"देखिए, एक बात है। आँख-कान की बात तो मेरी समझ में आ गई। परन्तु मुँह कैसे बंद करते हैं आप इनका ?"

"वह तुम्हारा काम है। खिला-पिलाकर भेजना इसे।"

"ठीक है। एक बात अच्छी की है आपने। स्कूल के हाते में सिर्फ फूलो के ही पेड लगाये है।"

"अच्छा जाओ। मेरे काम मे बाधा पडती है।"

"पंडित जी आपका स्वभाव और इन्तजाम देखकर तो मेरी भी इच्छा आपके स्कूल मे भरती हो जाने की हो रही है। पर हड्डियाँ बहुत पक्की हो गईं; मेरी लचक जाती रही।"

हँसते हुए पडितजी दरजे के भीतर चले गए।

घर जाकर उसने लछमियाँ की भरती का समाचार पत्नी को सुनाकर कहा—"बडी अच्छी राय दी पंडितजी ने। एक लोटा दूध दे ही आओ उन्हे आज।"

दो

लछमियाँ बेसिक स्कूल में भरती हो गया। आरम्भ के कुछ दिन तो ठीक-ठीक ही बीते। फिर उसके भीतर जो चपलता थी उसके अंकुर लगे फूटने। पण्डितजी ने इस बात पर ध्यान दिया और मन में यह निश्चय किया—यदि इस बालक की मानसिकता हाथ आ गई, तो निःसन्देह इसमे एक असाधारण योग्यता प्रकटाई जा सकती है।

पण्डितजी बेसिक के मूल में मनोविज्ञान को ही मानते थे। बाल-शिक्षा उनके जीवन की रुचि थी, व्यवसाय नहीं। उन्हें बाल-मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन था। उन्होंने यथानियम बेसिक-शिक्षा की योग्यता भी पाई थी और पश्चिमी दृष्टिकोण को भी पढ़ा था। यह सब होते हुए भी उनका एक अपना दृष्टिकोण था। बेसिक के अनेक वादों को विवाद मानते थे वह। पश्चिम की रीति-नीति पर आँख बंदकर चलना स्वीकार न था उन्हे।

वह बाल-मानस को ही शिक्षा का सर्वप्रथम, सबसे कोमल और सबसे आवश्यक क्षेत्र मानते थे। वह देश के लिए योग्य नागरिक और घर के लिए योग्य अविभावक का जन्म वहीं पर मानते थे। वह कहते थे, बाल-मानस ही वह भूमिका है जहाँ पर चरित्र-निर्माण की पहली शिलाएँ न्यस्त की जाती हैं। उजाले और अन्धकार की दिशा-सूचकता मनुष्य वहीं पर प्राप्त करता है और वहीं पर उसका पथ-निर्देश होता है। जब पथ-निर्देश हो गया तो फिर अपनी स्वाभाविकता से ही वह

लक्ष्य की ओर बढ चलता है। प्रगति कोई वस्तु नहीं और उद्देश्य की भी सार्थकता तभी है यदि मार्ग निश्चित हो गया हो।

हमारा राष्ट्रीय शिक्षा-क्रम अभी प्रयोग की कढ़ाई मे पडा है। विदेशी शासन ने जो उसका ढाँचा बनाया था वह शासन की मशीन के लिए चाहे उपयुक्त चालक बना सकता हो, आदर्श नागरिक नहीं। यह प्रकट सत्य सब पर विदित है। परन्तु वह शिक्षा-क्रम बिना प्रयास ही प्राप्त हो जायगा या थोडे-से मनुष्यो की भूप्रदक्षिणा करने से उद्भावित हो सकेगा, यह भी एक असम्बद्ध कल्पना-सी है। निरन्तर प्रयोग, निरीक्षण और अनुभव से ही वह सिद्ध होगा।

राष्ट्र की जन्मभूमि स्कूल है—समर-क्षेत्र नही। उसका बल नैतिक बल है पशु-शक्ति नहीं। शिक्षा का प्रश्न रोटी से पहले है और उसका उद्देश्य भी रोटी नहीं है। रोटी हमारी जीविका हो सकती है, वह हमारा जीवन नहीं है।

फिर शिक्षा का उद्देश्य क्या है? उसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। इसमें कही दो मत नहीं है। परन्तु चरित्र एक सन्दिग्ध शब्द है, जिसकी व्याख्या मे अवश्य ही मतभेद है। पश्चिम का चारित्रिक आधार कुछ और है, हमारा कुछ और।

सामाजिकता मनुष्य की बनावट है। चारित्र्य के सूत्र कुछ और ऊँचे हैं। वह एक विज्ञान है। सारी सृष्टि मे नियम की व्यापकता ही तो वैज्ञानिकता है। क्या वह वैज्ञानिकता, ज्ञान और कर्म का समन्वय नहीं है? क्या वह धर्म, विचार और श्रम का साम्य नहीं है? क्या वह सत्य, पण्डित और शूद्र का भाईचारा नही है?

विचार और कर्म के भेद ने ही वर्ग-विन्यास बढाया है, पाखंड की जड पर सिंचन किया है और ऊँच-नीच का कलह उत्पन्न किया है। क्या ऐसा साम्यवाद अर्थ की प्रेरणा है या शिक्षा की?

बेसिक का विद्यार्थी अपना शिक्षा-व्यय स्वयं ही उपजा लेगा और राष्ट्र का धनकोष भार-मुक्त होकर मद्य-विभाग के घाटे की सहज पूर्ति

कर लेगा, पंडितजी को इस सूत्र के प्रति आदर था। इसकी सम्भावना पर उनका विश्वास भी था, परन्तु प्रयोग और उदाहरण क अभाव में कैसे विरोधियों का मुख बन्द किया जा सकता था।

पण्डितजी के शिक्षा-प्रेम, जनता-हित, सद्भाव, सच्ची लगन और निःस्वार्थपरता का प्रभाव था अधिकारियों पर। पण्डितजी ने प्रयोग के लिए एक ग्राम की पाठशाला माँगी, उन्हे दे दी गई। उसमे उन्होने अपने ही नमूने, अपने ही क्रम और अपने ही अनुशासन का प्रचलन माँगा, वह भी उन्हें दे दिया गया।

पण्डितजी ने उस पाठशाला के लिए विद्यार्थियो का संग्रह किया। नगर की जटिलता मे उनका शिशु-समूह प्रयोग के लिए बडी बाधा था, इसीसे उन्होने ग्राम का एकान्त चुना और ग्राम के बालकों की सहज-सरलता पर आकर्षित हुए। कौन नही जानता कि विशुद्ध भारतीयता के अधिवास हमारे ग्रामो के ही मंडल है।

अपन स्कूल के लिए उन्होने वहाँ प्रत्येक जाति और वर्ग के विद्यार्थियो का संग्रह करना आरम्भ किया। उनकी इच्छा थी धूर्त-से-धूर्त विद्यार्थियो के कुछ नमूने भी उसमे सग्रहीत हो जाते तो अच्छा था। लछमियाँ ज्यो-ज्यों उनके दरजे में खुलता गया, त्यो-त्यो पण्डितजी समझने लगे कदाचित् वह उनक इष्ट नमूनो मे से एक था।

शिक्षा की निषेधात्मकता पर विश्वास न था पण्डितजी का। जब उनके विद्यार्थी बातें करने लगते थे तो पंडितजी उसे अपनी दुर्बलता समझते। वह कभी किसी से यह नहीं कहते कि बातें मत करो। दरजे मे किसी मनोरंजक तत्व की सृष्टि करते; कोई कहानी आरम्भ कर देते, हारमोनियम निकालकर गीत छेड़ देते, नृत्य के ठुमके बजाते, कोई नाटक चला देते या सबको खेल के मैदान में नियोजित कर देते।

अक्षर के नाम का अ और अंक के नाम का १ अभी तक नहीं चला था उनके दरजे मे। अक्षर तो एक कल्पना है ही, वह गणित को भी कल्पना मे ही सम्मिलित करते थे। आरम्भ मे ही बालक को

कल्पना पर भार डाल देना ठीक नहीं समझते थे वह। पहले उसे जगाना होगा। कल्पना को जगाने का साधन है कला; उसके पश्चात् उसे शक्ति देने के लिए अंक और परिपूर्णता के लिए सबके अन्त मे अक्षर।

दंड और पुरस्कार की भावना, इन दोनों को भी वह शिक्षा-शास्त्र का वैषम्य समझते थे। पहला विद्यार्थी की प्रतिहिंसा को बढ़ाता था तो दूसरा उनके मिथ्या अभिमान को।

एक ही दरजा था उनके स्कूल का और एक ही अध्यापक थे वह स्वयं। दीवार में जडा हुआ विशाल श्यामपट और पण्डितजी के एक तखत के अतिरिक्त और कुछ फरनीचर न था वहाँ। तखत केवल शोभार्थ ही था। पण्डितजी बहुधा बालकों के बीच मे ही उठते-बैठते और चलते-फिरते थे।

भूमि पर ही सब बैठते थे। छोटी-छोटी दरियाँ बिछी हुई थीं, दीवारों के निकट। तीन ओर विद्यार्थी बैठते, एक ओर पण्डितजी का तखत था। बीच का रिक्त स्थान भूमिकाओं का क्षेत्र था। उसमे एक लाल दरी बिछी रहती थी और उसका नाम रखा गया था 'कर्मक्षेत्र।' वहाँ कभी भाषण होते, कभी अभिनय, कभी कविता-कहानी, कभी नृत्य और कभी दंगल।

हाँ कभी दंगल—दंगल की बनावट नहीं, शुद्ध और सच्चा दंगल! जब दो विद्यार्थी दरजे मे झगडने लगते तो पण्डितजी उन दोनों में से किसी को बरजते तो थे ही नही, झगडे के उद्गम का न अनुसन्धान करते थे और न उसका विचार और न्याय। वह दोनो पक्षो को 'कर्मक्षेत्र' मे ले जाकर खडा कर देते थे। दंगल होने पर कर्मक्षेत्र का नाम 'कुरुक्षेत्र' रख दिया जाता था।

बीच मे दो लडते थे और समस्त दरजा उनको घेरकर उस दंगल का दर्शक बन जाता था। कोई एक को बढ़ावा देता, कोई दूसरे का उत्साह बढ़ाता। कोई ताली बजाता और कोई हँसने लगता। एक

व्यक्तिगत झगड़े को सामुदायिक कौतुक मे बदल देने का प्रभाव उन लडाकों पर बडा गहरा पडता और कदाचित् वे फिर कभी न लड़ने की शपथ ले लेते थे। पंडितजी छात्रों की मनोवृत्तियों को दबाकर नही खोलकर मिटा देते थे।

तकली पंडितजी के शिक्षाक्रम का एक मुख्य उपकरण थी। वह एक खेल-का-खेल था। वह छात्र के मस्तिष्क का भी एक अभ्यास थी। वह उनके हाथ, उँगली और दृष्टि को भी संयत करती थी। उसका अर्थ-शास्त्रीय उपयोग भी था। पंडितजी ने तकली का एक गीत बनाया था। कभी-कभी जब सब छात्र तकली चलाते थे तो पंडितजी बीच मे हार-मोनियम लेकर बैठ जाते और ऊन के तार के साथ गीत का ताल भी चलता। उन्होंने तकली का एक नृत्य भी बनाया था। एक हाथ मे पहनी हुई ऊन की लट तथा दोनों पैरों में पहने हुए घुंघरू जब ढोलक की ताल मे थिरक उठते तो एक मनोहर दृश्य आँखों को खींच लेता था। जिन्होंने वह तकली-नृत्य देखा है, वे कहते हैं वह उनकी प्रतिभा और कला-ज्ञान का सर्वथा मौलिक नमूना है।

लछमियाँ का मन लगने लगा स्कूल में। पंडितजी ने उसकी उद्दंडता के प्रकाशन के लिए लम्बी रस्सी छोड रक्खी थी और विस्तृत क्षेत्र दे रखा था। ठीक समय पर खा-पीकर वह सबसे पहले स्कूल में पहुँच जाता। इतवार को छुट्टी रहती थी। छुट्टी के दिन भी वह स्कूल का विछोह नहीं सह सकता था, उस दिन भी वहाँ पहुँच जाता। कभी अकेला ही और कभी दो-चार साथियों के साथ वह वहाँ कोई-न-कोई कार्यक्रम साधता।

घर पर लछमियाँ की कोई उद्दंडता कम हुई या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता था, परन्तु छः-सात घंटे के लिए गाँव से उसकी अनुप-स्थिति पड़ोसियों के लिए एक आशीर्वाद बनकर अवश्य आ गई थी।

पिता उससे पढ़ाई-लिखाई की बात पूछते, लछमियाँ न्यारे-न्यारे ही राग सुनाता, तरह-तरह की उछल-कूद मचाता, कभी तकली घुमाता

और कभी नाच करता, कसरत दिखाता, कवायद करता।

पिता सोचते यह कैसी नई पढ़ाई-लिखाई है। पुत्र की ऊन कताई से वह अवश्य प्रसन्न थे।

एक दिन उन्होने उससे पूछा—"बेटा, पढ़ाई-लिखाई नहीं होती तुम्हारे स्कूल में? किताब का तो कहीं नाम ही नहीं है तुम्हारे बस्ते में।"

"यह पाटी तो है।"

"पहले किताब, फिर पाटी।"

"झूठ बात! हमारे पडितजी कहते है संसार में ज्यों-ज्यों किताबें बढ़ती गईं, त्यों-त्यो बुद्धि का दिवाला निकलता गया।"

"बुद्धि का दिवाला कैसा?"

"दिवाले ही जैसा दिवाला, जो उलझन आई, झट किताब में देख ली। सिर पर तो कोई भार पड़ा ही नहीं। पहले के आदमी दिमाग में ही लिखते थे और समय पड़ने पर वहीं से निकालते थे।"

"हाँ, मैं क्या पढ़ा-लिखा हूँ, पर पुरानी-से-पुरानी याद ले लो मुझसे। पाटी मे क्या लिखते हो? तुम कहते हो, अ-आ तुम्हें लिखाये नहीं जाते, हिसाब तुम्हें सिखाये नहीं जाते।"

"पाटी में चित्र बनाते हैं हम।"

"फोटो खींचते हो! मेरी भी फोटो खींच सकते हो?"

"धीरे-धीरे खींच लूँगा।"

"लेकिन मेरी समझ मे यह बात नही आती, चित्र से लाभ क्या है? रोटी खाई जाती है, इसलिए उसका परिश्रम सार्थक है, ऊन से तन ढकता है, इसलिए कताई भी ठीक है, परन्तु इस चित्र से किसका पेट भरता है?"

"चित्र देखा जाता है, उसे देखकर दिमाग का पेट भरता है।"

"यह दिमाग का पेट कब से पैदा हुआ बेटा, हमने तो कभी सुना ही नहीं।"

"पंडितजी कहते हैं, जो कुछ भी हम बाहर देखते हैं, उन सबके

चित्र हमारे मन में खिंचे रहते है। उसी का नाम 'याद' है। चित्र खींचने से हम उसकी शक्ति को बढ़ाते है।"

सचमुच पाटियो में केवल चित्र ही खिंचवाते थे पंडित जी। अक्षर भी तो एक चित्र ही होते है। परन्तु उसकी परिधि बहुत छोटी है; केवल उसी भाषा का ज्ञाता उसे समझ सकता है; उसकी सार्वभौमिक पहुँच नहीं है। परन्तु रेखा और रंग से बना हुआ चित्र पढ़े-लिखे ही नही, निरक्षर ही नही, जंगली ही नहीं, विकास के बहुत नीचे स्तर पर स्थित पशु तक समझ जाते हैं।

आदि में कदाचित् भाषा के निर्माण से पहले मनुष्य ने चित्र मे ही अपनी भावुकता की अभिव्यक्ति की थी। पर-प्रस्तर युग की गुफाओं के चित्रो ने इनकी साक्षी दी है। अक्षरों के पूर्वज भी चित्र ही हैं। चित्रांकन मस्तिष्क की उर्वरता है। साक्षरता ने मस्तिष्क की स्पष्टता खोकर उसे दुरूहता दे दी। वास्तविकता को खोकर सभ्यता संकेत और प्रतीकों की माया में खो गई। यथार्थवादी आदर्शवादी हो गया।

इसीलिए पंडितजी चित्रांकन को शिक्षा में सबसे पहला महत्त्व देते थे। उन्होंने ड्राइंग शब्द का उपयोग भी छोड़ दिया था। वह उसे अत्यन्त भ्रष्ट भावना से सम्बद्ध समझने लगे थे। उन्होंने उसे कला के नाम से पुकारा।

ड्राइंग एक तुच्छ अनुकरण था, बाहर-ही-बाहर बोझा ढोना, एक प्रतिलिपि से दूसरी प्रतिलिपि, जीवन और स्पंदन से विरहित—एक मूकता, शून्यता!

कला क्यो अनुकरण नहीं है? कला को अनुकरण के कलंक से बचाने के लिए उसको कल्पित रुढ़ियो से भर देना क्या हमारी भ्रमात्मकता नही है?

कला अनुकरण हो सकती है। वह भीतर-बाहर के भेद से समन्वित है इसलिए अनुकरण नहीं वह सर्जना है। बाहर से भीतर—वास्तविकता से मानसिकता में, धरणी से धारण मे, फिर भीतर से बाहर—भावुकता

से चित्र के पट पर यही रचना है, यही सृष्टि है। बाहर-से-बाहर—यह है अनुकरण, जड़ता—केवल जड़ता, दासता है संस्कृति नहीं, निर्जीवता है, भावुकता नहीं।

ड्राइंग हमारी जड़ता थी और जड़ता की वृद्धि करने के लिए हमारी लेखनी का सहचर बना दिया गया रबर। कहा तो गया था वह हमारे श्रम मिटाने के लिए है, परन्तु बढ़ा दिए उसने हमारे श्रम ही। विदेशी व्यवसाइयों ने वह श्रम का सम्बन्ध अटूट कर दिया पैंसिल के दूसरे सिरे में रबर को जोड़ और जड़कर। एक सिरे पर लिखना और दूसरे पर मिटाना। वह निर्माण का साधन था या ध्वंस का। पंडितजी को रबर से बड़ी घृणा थी। वह कहते थे यदि मैं राष्ट्र की शिक्षा का विधायक होता तो चित्रकला में रबर के निष्कासन के लिए ही सर्वप्रथम हस्ताक्षर करता।

लेकिन पंडितजी की उस चित्रकला में लछमियाँ का कुछ भी मन नहीं लगा। जब चित्र-जैसी कला की यह दशा हुई लछमियाँ की पाटी पर, तो अक्षर और हिसाबों को पाकर तो न जाने वह कब का भाग खड़ा होता पंडितजी की पाठशाला से!

सारा दरजा अपनी-अपनी पाटियाँ अपनी-अपनी गोद में लेकर बैठा था—घुली हुई खड़िया सामने दवात में और लेखनी हाथों में।

पंडितजी बोले—"अनार का चित्र खींचो।"

कुछ उतावले हाथ दौड़ चले पाटी पर।

पंडितजी कहने लगे—"पहले मन में अच्छी तरह सोच लो। हमारे मन के भीतर एक आँख है। मन की आँख, उसी को खोलना कला का मुख्य उद्देश्य है।"

लछमियाँ मन में सोचने लगा—"यह बहका रहे हैं पंडितजी। मन के भीतर कौन आँख है? वह होगी भी तो खुलकर भी उस अँधेरे में क्या देखेगी?" पंडितजी के विरुद्ध विद्रोह जमा करने लगा वह।

पंडितजी कह रहे थे—"जो कुछ बाहर तुम देखते हो वह सब

तुम्हारे मन के भीतर भी दिखाई देता है। उसे स्पष्ट देखने के लिए कुछ देर के लिए बाहर की आँख बन्द कर सकते हो।"

लछमियाँ के पार्श्व में बैठा हुआ एक सहपाठी पंडितजी का अन्ध-भक्त था। वह आँख बन्द कर मन की आँखें खोलकर अनार को देखने लगा।

लछमियाँ ने अवसर पाया, पंडितजी की आँख बचाई और उस आँख बन्द किये सहपाठी के एक धप मारकर उसकी टोपी भूमि पर गिरा दी।

सहपाठी रोने लगा।

पंडितजी ने अपना आवेश सँभालते हुए पूछा—"क्या हुआ?"

"पंडितजी, मार दिया!"

"किसने?"

छात्र ने लछमियाँ की ओर देखा। पंडितजी ने भी उस पर दृष्टि की। लछमियाँ आँख मूँदकर ध्यानावस्थित हो रहा था।

पंडितजी ने कहा—"लछमियाँ!"

"हाँ पंडित जी दिखाई दे रहा है। गोल-गोल! मैं उसके सिर पर मुकुट भी देख रहा हूँ।"

"लेकिन इसके सिर पर की टोपी किसने गिराई?"

लछमियाँ ने आँख खोल दी—"मैं क्या जानूँ पंडित जी, मैं तो आपकी आज्ञा मानकर मन की आँख को उघाडने में लगा हुआ था। अनार का मुकुट बडा बढिया है खोपडी के साथ एकजान। न कभी गिर सकता है, न कोई उसे गिरा सकता है।"

पंडितजी खिलखिलाकर हँस पडे; सारा दरजा भी।

लछमियाँ कहने लगा—"मैं जान गया, इसने मन की आँख में अनार का समूचा पेड देखा होगा और फिर पत्थर मारकर अनार का दाना गिराया होगा। उसी मे टोपी गिर गई। भैया! तुडा-तुडाया अनार देख। मन के भीतर तो इतना परिश्रम करने को तैयार हो गया

और बाहर एक छोटी-सी भूमि पर गिरी टोपी उठाकर सिर पर नहीं रख सकता।"

सभी फिर हँसने लगे।

लछमियाँ ने सहपाठी की टोपी उठा ली। उसी से उसके दोनों गालों पर के आँसू पोंछ टोपी उसके सिर पर जमाते हुए कहा—"अब कभी पत्थर मारकर किसी का फल मत तोड़ना। जब सब हँस रहे हैं तो अकेले रोना ठीक नहीं है।"

छात्र ने पंडितजी की ओर देखा। उसका रोना बन्द हो गया था।

पंडितजी बोले—"ठीक तो है। हँसना साथ का ही है। रोना तो अकेले एकान्त की वस्तु है।"

"फिर मारा किसने मुझे?"

"जब तुम्हीं नहीं बता सकते तो मैं क्या करूँ?"

लछमियाँ बोला—"अनार के पेड़ का मालिक तो नहीं था?"

"अच्छा फिर सोचो। पूरी ठोस गोलाई में सोचो अनार के दाने को। रेखा ही नहीं उसकी रंगत को भी देखो। देख रहे हो न?"

एक लड़के ने पूछा—"आँख बन्द कर या खोलकर?"

लछमियाँ बोला—"रूप-रंग तो जो हुआ सो हुआ पंडितजी, तोड़कर दानों की मिठास की जाँच भी करें तो कैसा?"

"बहुत बढ़िया बात! अवश्य ही दानों की मिठास की जाँच भी करनी है। यद्यपि इस समय चित्रांकन में इसका कोई उपयोग नहीं है। फिर भी इस बात पर कुछ शब्द कहने ही चाहिएँ मुझे।"

ऐसे थे पंडितजी, लड़कों की किसी बात पर वह अपने स्वभाव की सहज गति खो देने के लिए कभी तैयार ही न होते थे। लछमियाँ के बुरे-से-बुरे उपद्रव में भी वह अच्छी-से-अच्छी बात ढूँढ़ ही लेते थे।

पंडितजी कहने लगे—"पढ़ना-लिखना शिक्षा का साधारण उद्देश्य है; उसका मुख्य उद्देश्य है, चेतना का विकास। आँख, कान, नाक, मुख और स्पर्श—चेतना के ये मुख्य द्वार हैं। इनकी शक्ति का परिपूर्ण

विकास ही शिक्षा की उद्देश्य-सिद्धि है। ध्यान से इनकी शक्तियों की वृद्धि की जाती है। अभी कदाचित् तुम्हारी समझ में कुछ न आ रहा हो''"

"आ रहा है पंडित जी, कहते जाइए, सब समझ मे आ रहा है। अनार तोडकर उसके खाने की बात पर आइए," लछमियाँ बोल उठा।

"हाँ वहीं पर आता हूँ। जब तुम सोने लगते हो तो आँख बन्द कर किसी फल को देखो, मन में आँखो से उसके रूप-रंग को देखो, खाकर उसका स्वाद चखो, नाक पर रखकर उसकी गन्ध सूँघो, हाथ पर लेकर उसका भार ज्ञात करो, उसकी ठंडक-गरमी की जाँच करो, उसके रूखे और चिकनाईपन का अनुभव करो। ठीक-ठीक ध्यान देकर अगर हम विचारें तो हम सब-कुछ मालूम कर सकते हैं—रूप भी, स्वाद भी, गन्ध भी, भार भी। कर सकते है न ?"

लछमियाँ ही दरजे-भर में सबसे अधिक वाचाल था। बोल उठा, "हाँ पंडितजी महाराज !"

"जो कुछ बाहर जगत मे है, वही भीतर मन मे भी है। बाहर होने पर उसका नाम वस्तु है और भीतर होने पर उसका नाम विचार है।"

"और अगर ताले में बन्द है तो फिर ?" लछमियाँ ने पूछा।

कुछ सोचकर पंडितजी ने कहा—"हाँ, यदि दिखाई नहीं दे रही है तो विचार में ही हुई।"

फिर पूछा उसने—"और यदि फूल मे है ?"

चकित हो पंडितजी ने पूछा—"फूल मे कैसा ?"

"हाँ पंडितजी, जैसे एक अनार का पेड़ है। मान लीजिए इसमें अभी अनार नही लगे हैं, केवल फूल लगे हैं। पर फूल मे अनार है तो सही ?"

"अवश्य है।"

"कहाँ है फिर ?"

"वह भी विचार ही में है। आ गया समझ मे?" पंडितजी ने पूछा।

"ऊँ हुँ," अँगूठा हिलाकर लछमियाँ बोला, "नहीं पंडितजी नहीं आया समझ मे।"

"क्यों नहीं आया?"

"सुनिए, आप हैं, अनार का पेड़ भी है और उसमें फूल भी लगे हैं। लेकिन आप—आप ऐसे हैं जिन्होंने अनार कभी देखा ही नहीं है, तो बताइए अनार कहाँ पर है?" लछमियाँ ने पूछा।

लछमियाँ के मुख से इस दार्शनिक पहेली को सुनकर पंडितजी बहुत प्रसन्न हो गए—"चिरंजीवी हो लछमियाँ, बड़ा बढ़िया प्रश्न तुमने पूछा। इसमें कोई संशय नहीं, यदि पढ़ने-लिखने में तुम्हारा मन लग गया तो तुम एक दिन बड़े पंडित हो जाओगे।" कहकर पंडित जी उस प्रश्न का उत्तर देने के लिए विचार-मग्न हो गए।

"अनार कहाँ है पंडितजी?"

"वह भी विचार ही मे है।"

"कभी देखा नहीं है।"

"न हो देखा, विचार अनुभव-जन्य ज्ञान ही नहीं है...."

"आप हमारी मूर्खता में अपनी दुर्बलता छिपा देने को संस्कृत बोलने लगे।"

"कभी नहीं। तुमने अपने दादा को देखा है?"

"नहीं, वह मेरे पिता को दस वर्ष का छोड़कर स्वर्गवासी हो गए थे।"

"ठीक है, तुमने उन्हें देखा नहीं है, पर वह तुम्हारे विचार में आ गए न? ईश्वर को भी हमने देखा नहीं है, परन्तु वह हमारे विचार में रहता है।" पंडितजी ने उत्तर दिया।

"आप बहुत होशियार हैं पंडित जी," लछमियाँ बोला।

"विचार जब मन में जमकर स्पष्ट दिखाई देने लगता है तो ध्यान कहलाता है," पंडित जी ने कहा।

लछमियाँ ताली बजाकर उठ खड़ा हुआ—"सुर, नर, मुनि ध्यान धरत—वह ध्यान और यह ध्यान एक ही बात है पंडितजी ?"

"बिलकुल एक ही बात।"

"फिर आपने इसका नाम स्कूल क्यो रख दिया ? यहाँ तो आप कुछ और ही बात सिखा रहे हैं ? चल सकेगा आपका यह स्कूल कुछ दिन ?"

हँसकर पंडितजी कहने लगे—"अच्छा अनार का ध्यान करो, उस का मुकुट भी देखो और उसकी ठोस गोलाई भी सोचो।"

मुख पर बड़ी असमंजस और कठिनता प्रकट कर एक लड़का बोला—"ठोस गोलाई कैसे पंडित जी ?"

"उजाले की सहायता से, मन मे एक ज्योति जलाओ।"

"आरती भी आ गई ! वाह पंडितजी, लेकिन परसाद का पता ही नही !" लछमियाँ ने मुँह खोला।

"अगर मन में पूरी गोलाई जाग गई तो पूरा अनार का दाना हाथ आ जायगा और वह अच्छे-से-अच्छे प्रसाद के रूप में हो जायगा। बाहरी प्रसाद सब धोखा है; जो मन में है, वही सत्य है।" पंडितजी ने कहा।

"कदापि नहीं। अगर ऐसा होता तो न बैलों के कन्धों पर होता जुआ, न मनुष्यों के सिर पर बोझ, न प्रजा को देना पड़ता लगान, न राजा का सँभलता मुकुट। न चलती चक्की, न जलता चूल्हा," लछमियाँ ने कहा।

"क्यों !"

"क्यों ? ज्यों-की-त्यो ! ठोस गोलाई नहीं, अगर कहीं चपटी गोलाई भी मन में उपज गई, तो मार लिया मैदान ! रोटी और पैसा दोनो मिल गए, बिना नौकरी और बिना परिश्रम। आपने कहा न कि बाहर धोखा है और भीतर मन मे सच्चाई। वाह पंडितजी, सुबह आपके स्कूल आने से पहले फिर क्यो पतीली मे दाल गलाई जाती

है। मन मे ठोस गोलाई सोच ली होती तो फिर क्यों ये तमाम गाँव-भर के बालक स्कूल में जमा करने पडते ?" लछमियाँ खडा होकर कहने लगा।

"अपनी समझ के योग्य बात तुम्हारी भी झूठ नहीं है। ध्यान एक योग है।" पंडितजी ने कहा।

लछमियाँ ने पाटी, दवात-कलम सब उठा लिये—"क्या पंडितजी घरबारियो के बालको को आप जोगी बनाने जा रहे है। जभी आप कोई फीस नहीं लेते। किसी को ध्यान करना होगा तो वह जंगल में जायगा या आपके स्कूल मे आयगा। आप कहते हैं, आपने बाहर स्कूल की दीवार मे रगीन अक्षरो मे लिख रखा है—'बढ चलो !' सोचा था कुछ बढा देंगे आप। लेकिन मैं तो जहाँ-का-तहाँ ही रह गया। कल आऊँगा अब, इस समय बडी जोर की टट्टी लग गई मुझे। घर को जाता हूँ।" लछमियाँ घर को चल दिया।

बलपूर्वक विद्यार्थी के गले मे फन्दा डालकर उसे दरजे में बिठाना पंडितजी को इष्ट न था। आग्रह और उपदेशो का भी उपयोग नहीं करते थे वह। उपस्थिति का कोई रजिस्टर भी नहीं रक्खा जाता था। इसे वह विद्यार्थी की दासता बढाने का साधन समझते थे। वह स्कूल और शिक्षण में इतना आकर्षण होना आवश्यक समझते थे कि विद्यार्थी स्वयं प्रेम और श्रद्धा से उसकी ओर खिचता चला आए। यदि ऐसा भाव उसमें उत्पन्न नहीं हो सका, तो केवल उसके शरीर के दरजे मे उपस्थित रहने से क्या हो जाता है ? शिक्षा में प्रमुख भूमिका तो मन की है। किसी भी विद्यार्थी को किसी समय कक्षा मे प्रवेश करने की या उससे चले जाने की खुली छूट थी।

उनके स्कूल का कोई पाठ्यक्रम नही था। उसको ही निर्धारित करने का प्रयोग चल रहा था उनका। कोई समय-विभाग भी नही था। विद्यार्थियो की भावना पर ही यह अवलम्बित था। छात्रो के बहुमत को जिधर ढला हुआ पाते, उधर ही उन्हे नियोजित कर देते।

खेल की ओर उनका झुकाव देखा तो खेल के मैदान में चल पड़े; कताई की ओर प्रवृत्ति देखी तो लगे कातने, बातो की इच्छा हुई, तो बातो मे लग गए—होने लगी कविता, कहानी, नाटक-प्रहसन, चित्र बनाने मे उनका मन देखा, तो होने लगा 'ठोस गोलाई' का चिन्तन और अंकन; और नृत्य-गीत का आवेश देखा तो खुल पड़े ढोलक, हारमोनियम, मँजीरा, करताल।

पंडितजी का सिद्धान्त था—मानसिक शक्तियों के विकास मे ताल की भारी प्रधानता है। उनका कहना था कि ताल की यदि ठीक-ठीक साधना की जाय तो स्वर उसी मे से उपज जाता है। सारी कक्षा को नपे-तुले अन्तर के साथ-साथ ताली बजाने का भी एक पाठ्य-क्रम था उनका—कभी गीत के साथ और कभी बिना गीत के भी। ताल में काल का ही प्राकट्य है और मनोवैज्ञानिक कहते तो हैं काल की धारणा का एकाग्रता के साथ निकट सम्बन्ध है।

पंडितजी के स्कूल मे एक घंटा अवश्य लटकता था गूलर के पेड़ में बँधा। अभी वह केवल दो बार बजाया जाता था—स्कूल आरम्भ होते समय और स्कूल की समाप्ति पर। काल की चैतन्यता हमारे बढ़ चलने की तैयारी है। काल चुपचाप बीत जाना चाहता है, दबे पाँव; उसे हमे छलने में आनन्द आता है। घंटा बीच-बीच में उसकी आहट ताल देकर हमें सजग कर देता है। स्कूल के आरंभ-समाप्ति के बीच के शून्य समय को भी विभाजित कर पंडित जी उसमें घंटो के विराम देना चाहते है—किसी विचार के स्थिर होने पर ही।

पंडितजी के कार्यक्रम मे परेड और कसरत का भी विशेष भाग था। परन्तु केवल शारीरिक सम्वर्द्धन ही उनका हेतु न था। मानसिकता—केवल मानसिकता पर हो दसो दिशाओं से उनका लक्ष्य था। वह इस बात पर पक्का विश्वास रखते थे कि यदि हमारी मानसिकता परिपुष्ट है तो कोई कारण नही कि हमारा शरीर दुर्बल हो जाय। शारीरिकता मन की अनुचरी है।

पंडितजी ने परेड और कसरतों मे नृत्य, ताल और गीत के अवयव प्रचुर मात्रा मे सम्बद्ध कर दिए थे। वह कला और कसरत का मेल एक देखने योग्य वस्तु थी। उसमे बाजा भी बजता था और घुँघरू भी झंकृत होते थे।

लछमियाँ का सबसे प्रबल आकर्षण आरम्भ से ही उस परेड में था। चित्रांकन से वह ऊब उठने लगा था। गीत और कहानी मे भी उसकी कोई रुचि नहीं रह गई थी। तकली के चक्कर भी उसके मन मे पुराने पड गए थे, परन्तु परेड में उसकी उजड्डता को खुल-खेलने के लिए पर्याप्त क्षेत्र था।

धीरे-धीरे पंडितजी के स्कूल कुछ कार्यक्रम तो बनता जाने लगा। पहले घंटे के बज जाने के पश्चात् ईश-प्रार्थना होती। भगवान् की प्रार्थना, उसके स्थान और समय के सम्बन्ध मे कोई मनमानी नहीं हो सकती। सबसे प्रथम ही उसकी गणना होनी सर्वथा उचित है।

प्रार्थना के पश्चात् परेड होती थी। उसमे सम्मिलित होने के लिए लछमियाँ ठीक समय पर स्कूल में उपस्थित हो जाता। जिस दिन माता समय पर भोजन न बना सकती, वह दो-चार बासी रोटियाँ जेब मे डालकर चला आता।

परेड में एक नेता होता था। वह गले में ढोलक डालकर लडको के आगे-आगे चलता था उसे बजाते हुए। प्रायः यह पद लछमियाँ को ही मिलता। ढोल पीटता हुआ नेता आगे बढता, उसके पीछे दो उपनेता हाथो मे डमरु लेकर उसे बजाते हुए चलते थे। उनके पीछे कभी चार, कभी तीन, दो और कभी एक पंक्ति मे छात्रो की पलटन। चारो ओर मैदान था और बीच मे स्कूल। पलटन स्कूल के चारो ओर मार्च करती थी। स्कूल का मार्च-गीत था —

बढ़ चलो, बढ़े चलो !
नये जवान बढ़ चलो !

है जगत नया, नवीन
आसमान बढ़ चलो !
डरो नहीं अगर दुखो का सिंधु-जल अथाह हो,
हो कदम जमा हुआ जमी हुई निगाह हो,
फूँक मार ठोकरें उड़ा दो साफ राह हो।
शंख बज गया पकड़
अमर निशान बढ़ चलो !
बढ़ चलो, बढ़े चलो
नये जवान बढ़ चलो !

गीत का शुद्ध अर्थ न समझते हुए भी लछमियाँ को वह पूरा-पूरा याद था। केवल उसकी 'बढ़ चलो' की टेक पर ही वह मुग्ध था। वह गीत को स्कूल से आते-जाते भी मार्ग मे गाता था। खाते-पीते भी गुनगुनाता था और सपने मे भी बड़बड़ाता था—

बढ़ चलो, बढ़े चलो !
नये जवान बढ़ चलो !
है जगत नया, नवीन
आसमान बढ़ चलो !

घर पर जब लछमियाँ रहता तो समस्त गाँव के लड़कों को एकत्र कर उनको मार्च कराता। वह हाथ में एक छड़ी लेकर अपनी अधिकारिता सँभालता। दंड-शासन का कोई आदर्श उसने अपने गुरुदेव से नहीं पाया था, परन्तु ठीक-ठीक न चापें मिलाने पर वह अपनी बाल-सेना के पैरों मे पर्याप्त छड़ी के सटाके जमा ही देता था। वह गाता हुआ आगे बढ़ता—

"बढ़ चलो, बढ़े चलो !"

और उसका अनुगमन करती हुई सेना भी गाती हुई बढ़ती—

"बढ़ चलो, बढ़े चलो !"

पंडितजी कवि-चित्रकार, कहानीकार नाटककार, राजनीतिज्ञ-अर्थ-शास्त्री, प्रसूतात्विक इतिहासज्ञ और दार्शनिक-मनोविज्ञानी सभी कुछ थे। और इन सबके आकर्षण एवम् उपयोगिता का एकीकरण कर वह हो उठे थे मूलतः शिक्षा शास्त्री।

लछमियाँ को स्कूल मे भरती हुए एक वर्ष हो गया। स्कूल का आदर्श था—"बढ़ चलो!" उसकी ध्वनि थी—"बढ चलो!" इस 'बढ चलो' ने ही लछमियाँ को इतने दिन तक स्कूल से सलग्न रख दिया।

वह मन मे कहने लगा—'झूठा ही बढ चलो। कहाँ बढ चले? तकली घूमती है, बढ़ती नही। बैलगाडी की चाल भी उसमें होती तो अब तक कभी का नगर मे पहुँच गया होता। और परेड? वह भी केवल एक धोखा है, उसमे हम कुछ चलते अवश्य है, पर पंडितजी स्कूल के ही चारों ओर घुमा देते हैं। लौट-फिरकर फिर हम अपनी जगह मे ही आ जाते है। भला आगे बढ़ना हुआ यह? अच्छा चक्कर हुआ यह! यदि यह सारा श्रम एक सीध में होता तो अब तक हिन्दुस्तान की जड़ तक पहुँच जाता।'

लछमियाँ का मन स्कूल से उखड गया। पंडितजी ताड गए इस बात को। इसे उन्होंने लछमियाँ की चपलता नहीं समझा, इसे मानने लगे वह अपनी घोर पराजय। वह मन में सोचते थे—'यदि एक भी लड़का स्कूल से उकताकर भाग गया, तो उनका सारा प्रयोग मिट्टी में मिल जायगा।'

वह भाँति-भाँति के उपायो से लछमियाँ को घेरने लगे। किसी नियम की कठिन ग्रंथियों मे स्कूल का कोई भी छात्र बँधा हुआ नहीं था। लछमियाँ को पंडितजी ने सुभीते-पर-सुभीते देने आरम्भ किये। इसका फल बुरा ही हुआ। नम्रता यदि उसका स्वभाव होती, तो वह पंडितजी की कृतज्ञता मानता। वह था उजड्ड, और भी सिर पर चढ़ने लगा।

अन्त में एक दिन उसने पंडितजी पर बात खोल ही दी—"मैं तो जाता हूँ पंडितजी !"

"कहाँ ?"

"बढ़ चलने जाता हूँ ।"

"क्या यहाँ हम नहीं बढ़ रहे है साथ-ही-साथ ?"

"कहाँ बढ रहे है ? तकली तकुए पर घूमती है और हम स्कूल के चारों ओर घूमकर फिर वहीं पर आ जाते हैं। यह बढ़ना हुआ ? यह हुआ चक्कर—भाग्य का चक्कर। तेली के बैल नही हुए, हम ही हुए।"

"कला के प्रकाश से हम तुम्हारे मन के भीतर उजाला कर रहे हैं यहाँ।"

"मै अँधेरे ही मे खरा हूँ। दिन-भर परिश्रम कराते है आप और खाने-पीने की पट है यहाँ। कुछ माहवारी देने-लेने का नाम नहीं, उलटा सिर पर यह थापते है कि स्कूल में कोई फीस नहीं ली जाती है।"

"यदि चित्रांकन में तुम्हारा मन न लगे, तो कोई दूसरा काम कर लेना तुम उस समय।"

"अच्छा उस समय मैं ढोलक बजा लिया करूँगा।"

पंडितजी ने कुछ सोचा, फिर बोले—"बजा लेना।"

"नहीं, मै तो हारमोनियम बजाऊँगा।"

"वह तुम्हें आता कहाँ है ?"

"सीख लूँगा।"

"बजा लेना। लेकिन धोंकनी जल्दी-जल्दी चलाओगे तो वह बिगड़ जायगा।"

"नहीं, क्यों बिगाड़ूँगा।"

लछमियाँ को हारमोनियम बजाने की आज्ञा दे दी गई। शाम को छुट्टी होने पर जब सब लड़के अपने-अपने घरों को चले गए और पंडितजी भी स्कूल में ताला देकर अपने निवास को पधारे तो लछमियाँ

निकट ही कहीं छिप गया था। फिर स्कूल मे आ गया।

तब वह बाहर स्कूल की दीवार पर बने हुए रेल के चित्र को खुरचकर मिटाने लगा।

"सरासर झूठ! भीतर तकली चलवाकर बाहर रेल का चित्र बनाया इन्होने। कहाँ चल रहा है यह चित्र! लछमियाँ को नहीं ठग सकता कोई। मै इसकी पूरी सूरत बिगाडकर ही चैन लूँगा।"

उसने पत्थर से दीवार खुरच-खुरचकर रेल अदृश्य कर दी वहाँ से। वह कह रहा था मन मे—"चित्र! क्या होता है चित्र से? कहते हैं—आम बनाओ, अनार बनाओ, लड्डू बनाओ, पेडे बनाओ। होता क्या है उनसे? पेट भरता है क्या? मन मे ही चख लो! बस, मन मे ही चख लिया। लछमियां ने तो मन में ही चित्रांकन भी कर डाला। छुडा लिया उसने अपना पिण्ड। आज तो चित्रांकन किया ही नहीं गया। कल को ठाठ से हारमोनियम बजाऊँगा। पंडितजी कहते तो हैं हम किसी को डराते-धमकाते नहीं, परन्तु वह जो धोंकनी को धीरे-धीरे चलाने की बात है, वह क्या धमकी नही?"

कुछ ही देर में लछमियाँ ने रेल के सारे रंग खुरचकर मिटा दिए। वह दौडकर मोटर के चित्र पर आया—"यह भी तो, यह मोटर भी तो उसी की भाई-बन्द है।"

मोटर के चित्र को मिटाकर उसने हाथों की सफाई दिखाई। दीवारों पर जो आदर्श और स्वागत के वाक्य हिन्दी मे लिखे हुए थे, वे उसकी पहुँच के बहुत ऊपर थे। नीचे भी होते तो कदाचित् वह उनको छेडता नही, क्योंकि अभी साक्षरता प्रयोग मे सम्मिलित नहीं हुई थी।

यदि लछमियाँ को अक्षर-ज्ञान हो गया होता तो कदाचित् वह स्कूल के उस आदर्श वाक्य 'आगे बढ़ो' को सबसे पहले मिटा डालता।

किसान-बालक स्कूल के लिए लेकर कृषि का उद्यम सम्मिलित नही किया था पंडितजी ने अभी वहाँ। इसके कुछ कारण थे। सबसे मुख्य

था स्कूल के चारों ओर एक दीवार का निर्माण। ग्राम-मण्डल के पशुओं से उसे बचाना आवश्यक था। उसके लिए आवश्यक थी अच्छी धनराशि। हाल ही मे सरकार ने एक अतिरिक्त स्वीकृति देकर स्कूल के चारो ओर दीवार बना दी थी और पंडितजी शीघ्र ही वहाँ कृषि और गोपालन के उद्यम आरम्भ करने जा रहे थे। विद्यार्थियों ने कुछ खुदाई भी चला दी थी।

लछमियाँ बडे भारी पराक्रम की सिद्धि मे, विजय के दर्प से सिर ऊँचा करता हुआ घर को लौट चला। मार्ग मे उन नवीन खेतों को देखकर कहने लगा—"यह खेती होगी अब यहाँ? स्कूल से मतलब क्या है खेती का? यदि खेत पर ही मेहनत करनी होगी, तो क्या घर पर नहीं है मेरे खेती! घर की खेती से बचने यहाँ आया, यहाँ भी खेती!"

गूलर के पेड में एक कौआ चिल्ला उठा। लछमियाँ ने भूमि पर से एक पत्थर उठाकर उस पक्षी पर फेंका। स्कूल की दीवार पर उसकी दृष्टि गई—"हैं! यह हवाई जहाज का चित्र तो रह ही गया!"

चित्र कुछ ऊँचे पर था। वह ऊँचा होने के लिए एक टूटा हुआ घासलेट का टीन उठा लाया और उसपर चढ़ एक लकड़ी से चित्र को खुरचने लगा। अचानक उसने स्कूल की बाईं ओर से किसी की उस ओर बढती हुई आहट सुनी। लछमियाँ कूदकर भागा दाहनी ओर को और दीवार फाँदकर दौड गया जंगल की ओर।

पंडितजी कोई आवश्यक पुस्तक भूल गए थे स्कूल मे ही; उसे लेने आ रहे थे। दीवारो पर के ध्वंस ने उनकी दृष्टि खींची और ओट मे भागते हुए लछमियाँ की पद-ध्वनि ने उनकी श्रुति। कानो की ओर ही दौड पड़े वह। लछमियाँ उस समय दीवार फाँदकर पेड़ों में छिप चला था।

फिर भी पंडितजी की क्षिप्रता ने उसकी परछाईं पहचान ली। उन्होने पुकारा—"लछमियाँ!"

कुछ उत्तर नहीं मिला उन्हे ।

"तुमने कोई भी अपराध नही किया है और मैं अपने पास कोई दंड नही रखता । आओ ! बात तो सुनो !"

लछमियाँ ने ओट मे पंडितजी की यह बात सुनी, परन्तु वह लौटा नहीं; भागकर अपने ग्राम के पथ पर चला गया ।

पंडितजो ने दीवार पर चढ़कर पुकारा—"लछमियाँ !"

चीड के पेडो की सुवासित सरसराहट में पंडितजी की पुकार डूब गई ।

लछमियाँ गाँव की ओर गाता हुआ जा रहा था—"बढ चलो, बढ़ चलो !"

तीन

. . .

घर जाकर लछमियाँ ने वेग से पाटी पटक दी भूमि पर, पिता के सामने, आँगन के पत्थरों की पटाल पर। पिता गुडगुड़ी पीते हुए अपने एक सहवासी से बातो मे सलग्न थे। उन्होने देख-सुनकर भी लछमियाँ की ओर कुछ ध्यान नही दिया । पुत्र के स्वभाव में ही उजड्डुता थी।

पुत्र पिता की इस उपेक्षा पर चिढ़ उठा। उसने फिर पाटी उठाई और इस बार दूनी शक्ति से भूमि पर दे पटकी।

गुडगुड़ी का तम्बाकू सोख चुके थे वे दोनो। शेष धुँआ छोड़कर पिता ने उसे दीवार के सहारे रख दिया और बड़े संयम के साथ बोले, "क्यो बेटा, क्या बात है?"

"बस हो गया! अब कल से आप मुझसे कभी स्कूल जाने को न कहें।"

"क्यों? क्यो? क्या हो गया?"

"हुआ कुछ नहीं। बस कह दिया मैने, नहीं जाऊँगा।"

"पंडितजी ने कुछ कहा? किसी लड़के से झगड़ा हुआ?"

"नहीं।"

"फिर?"

"किसी ने मारा तुम्हे?"

"मार कौन सकता है लछमियाँ को? बात यह है पिताजी, जिस काम के लिए आपने मुझे भेजा है, वह तो कुछ होने वाला नहीं है वहाँ।"

सहवास ने पाटी उठाकर लछमियाँ को देते हुए कहा—"लो सँभालो इसे। इसमे विद्या लिखी जाती है, इसका अनादर नही किया जाता। स्कूल क्यों नहीं जाओगे ? सभी बालक जाते हैं वहाँ।"

"कुछ पढाई-लिखाई नहीं होती वहाँ। धित-धिन, ता-धिन; छुम छुम, छुछु-छुम, बस यही सिखाते हैं, यही हुई क्या पढ़ाई-लिखाई ?" लछमियाँ ने नाच की भ्रूभंगी और ठुमका लगा कमर पर हाथ रखकर कहा।

सहवासी हँसने लगा। लछमियाँ के पाटी न लेने पर उसने उसे उठाकर दीवार पर रख दिया और जाते हुए कहने लगा—"यही कह दूँगा मै फिर उनसे जाकर।" वह चला गया।

पडौसी के जाने पर लछमियाँ के पिता बेटे की बात पर पूरा-पूरा ध्यान देने को तैयार हो गए—"हाँ बेटा !"

"झूठे ही मेरा नाम लगा रहे हैं पंडितजी।"

"पंडितजी तो बडे अच्छे आदमी हैं। न मारते हैं कभी, न किसी को धमकाते हैं। क्या नाम लगा रहे है तुम्हारा ?"

"कहते है, मैने स्कूल की दीवारो के चित्र मिटा दिए ?"

"मिटाए हैं तुमने ?"

"नही पिताजी, मुझे झूठ बोलने से मतलब ?"

"जब जिससे कोई भय नहीं है, तो उससे तो झूठ कभी बोलना ही न चाहिए।"

"कल से मै स्कूल नहीं जाऊँगा।"

लछमियाँ नित्य ही ऐसी बक-झक लगाया करता था। पिता उठकर जाने लगे—"कल-की-कल ही देखी जायगी बेटा, अभी तो दो जून को रोटी पडी है बीच में। चल थोडी-सी खाद फेंकनी है खेतों मे। चलेगा ?"

"स्कूल से हारा-थका तो मैं चला आ रहा हूँ। आपको खाद की सूझी है।"

पिता के पीठ करते ही लछमियाँ ने गुडगुडी उठाई। चिलम पर हाथ रक्खा, ठंडी हो गई थी। फूँक मार-मारकर कहीं किसी चिनगारी की ढूँढ की; कोई भी न मिली। घर के भीतर जाने लगा। द्वार पर ताला देकर माता भी अन्यत्र चली गई थी। उसका जी चाहा हाथ की गुडगुडी को पत्थर पर पटककर चूर-चूर कर दे। उसकी दृष्टि दीवार पर रक्खी गई पाटी पर पडी।

गुडगुडी सँभालकर रख दी। पास पडी हुई कुल्हाडी उठा ली और पाटी के छोटे-छोटे टुकडे कर रख दिए। कुछ सूखी घास उठा लाया और पाटी के टुकडो पर रख जेब से दियासलाई की डिबिया निकाल अग्नि प्रज्वलित कर दी।

पाटी को लपटो मे जलता हुआ देखकर कहने लगा—"पाटी बगल में देकर आते-जाते रास्तो मे हमारी विद्यार्थी की-सी सूरत बनाई है और सिखाते है वहाँ उछल-कूद और ऊधम! न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।" उसने जेब से कलम निकाल उसको भी बीच से चीरकर फेंक दिया।

आग मे कोयले पड गए थे। वह उठा, दौड़कर पडौस मे कहीं से पिता के नाम पर एक चिलम तमाखू माँग लाया और गुड़गुड़ी भरकर गुडगुड़ाने लगा। हठात् उसे कुछ याद आई और उसने पाटी के कोयले उठाकर ओट मे फेंक दिए। पैर से भूमि पर की राख इधर-उधर कर उस पर घास के तिनके डाल दिए।

वह दीवार पर बैठकर तमाखू पीने लगा। मन में कहता जा रहा था—"तमाखू तो नही सिगरेट अवश्य पीते है पंडितजी, लेकिन हमसे छिपाकर, और लछमियाँ, वह अपने पिता के सामने भी ठाठ से गुड़-गुड़ाता है। जो कुछ भी हो, एक बबाल से तो छूटा कल से। बढ़ना ही होगा तो मोटरगाडी की सडक पर न बढ़ता चलूँगा नित्य आगे-ही-आगे। यहाँ तो स्कूल से छूटे घर, घर से गिरे स्कूल। पंडितजी

इसको 'बढ़ना' कहते हैं और हमारे भोले-भाले पिताजी 'पढना' !" वह ठहाका मारकर हँसा ।

पनचक्की से एक थैली में आटा पिसवाकर सिर पर रखे हुए उसकी माता चली आ रही थी । लछमियाँ की उस मार्ग पर पीठ थी । माता ने निकट आकर पूछा—"लछमियाँ, आगया तू ? किससे हँस रहा था ।"

"हमारे पंडितजी कहते हैं आधी दुनिया बाहर है और आधी भीतर । मैं उसी भीतर की दुनिया से बातचीत कर रहा था ।"

पंडितजी का नाम जुड जाने से माता के कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी; कुछ विश्रान्त भी थी वह । थैला सिर पर से चबूतरे पर उतारकर बैठ गई प्रवेश-द्वार की सीढियों पर । लछमियाँ उसके सामने आकर गुडगुडाने लगा ।

"वहाँ क्या आदमी भी रहते हैं ?"

"हाँ, क्यो नही ? सफेद भी और रंगीन भी, दोनों तरह के ।"

"बकता है तू !"

"मै बकता हूँ या पंडितजी ? आँख मूँदकर पंडितजी की बात तो कभी मानी नहीं मैंने । एक बात पूछता हूँ माँ ! यदि हमारे भीतर कोई संसार नही है, तो जब हम सपना देखते हैं तो वहाँ समुद्र-पहाड़-रेल-मोटर, पुरुष-स्त्री, बाघ-भालू, भूत-प्रेत यह सब कहाँ से आ जाते हैं ?"

"अधिक पागलपन मत कर । फेंक, चिलम फेंक ! यही सीखता है तू स्कूल मे ?"

"पिताजी तो कुछ कहते नहीं हैं मुझसे । तुम यों ही डाँटने लगती हो । जरा दिमाग की थकान मिटा लेता हूँ । पेट में थोडे जाता है कुछ जो हानि पहुँचा देगा ? मुँह से खीचा नाक से निकल दिया, बस हो गया । लेकिन बुझ गए कोयले, तमाखू भी सूँघने भर को दी उसने ।" लछमियाँ ने गुडगुड़ी ठीक पिता की रक्खी हुई जगह पर रख दी ।

माता द्वार खोल आटे की थैली उठाकर घर के भीतर चली।

लछमियाँ ने उसका अनुसरण करते हुए कहा—"चाय बना दे माँ!"

माता को कुछ याद आई। उसने भौंहें तरेरकर पूछा—"तू दिया-सलाई की डिबिया ले गया?"

"कहाँ? कब? माँ!" लछमियाँ ने जेबो मे हाथ डालकर कहा—"तुम देख लो मेरी दोनो जेबें।" जिस जेब मे उसके डिबिया न थी, उसे उलटकर भी दिखा दिया उसने।

"फिर कौन ले गया?"

"मैं क्या जानूँ? सिरहाने देख लिया तुमने बिस्तर मे?" कहकर लछमियाँ ने बिस्तर उधेड डाला। चुपचाप जेब से डिबिया निकाल लाया—"मिल गई माँ! तुम झूठ-मूठ मेरा ही नाम लगा देती हो। गाँव-भर मे जहाँ कुछ टूट-फूट होगी, चोरी-छिप जायगा, सबसे पहले लोगों के होंठों पर होता है लछमियाँ का नाम।"

"लोगो की क्या शत्रुता है तुमसे? करतूतें ही ऐसी हैं तुम्हारी," आग सुलगाती हुई माता बोली।

"ऊब उठा हूँ माँ मैं भी इस गाँव से। जी चाहता है कहीं को चल दूँ।"

"पढ़ता-लिखता कुछ है नहीं। जैसा गँवार गाँव में, वैसा मूरख शहर में। गाँव बस गया तुझसे, अब शहर के आबाद होने की कसर है। चौका-बासन करेगा कहीं और कर ही क्या सकता है?"

"फिर क्या पढ़ाते-लिखाते हैं वह? पढ़ाना-लिखाना ही कुछ ढंग का होता, तो यह दिन आता?"

माता कुछ न समझी।

"चलो एक आफत मैंने गँवाई, तो एक झंझट तुम्हारी गई।"

आग फूँककर माता ने पूछा—"झंझट कैसी?"

"मैंने स्कूल का नाम काट दिया कल से।"

"पंडितजी क्या कहेंगे ?" माता अब भी नहीं समझी ।

"वह हमारे घर आकर थोड़े बुला ले गए थे मुझे । अपने मन से गया था मै, अपने मन से ही न जाऊँगा ।"

"पढ़ाई-लिखाई का हर्ज हो जायगा ।"

"रत्ती-भर न होगा माँ । तुम देखती रहना । जैसी पढाई-लिखाई वहाँ होती है उससे अच्छी घर ही पर कर दिखा दूँगा मैं ।"

"पिताजी क्या कहेंगे ?"

"उन्हे राजी कर लिया है मैंने । खेत खुदवाने की पढाई करने जा रहे हैं पंडितजी अब स्कूल में ।"

"खेत खुदवाने की कैसी पढाई हुई ?"

"जैसी नाच-कूद की । खेती ही खोदना होता तो क्या घर पर नहीं है हमारे मिट्टी ? यहीं क्यों न खोद लूँगा ? खेत खोदें हम और खा जायँ पंडितजी ।"

माता कुछ सोच-विचार में पड गई । उसने चूल्हे पर चाय चढ़ा दी थी ।

"मैं अपनी ही खेती मे लग जाऊँगा । पिता का और तुम्हारा हाथ बटाया करूँगा ।"

"मन लगता जब तुम्हारा ! ऐसी ही मति होती तुम्हारी तो उस पढ़ने-लिखने मे कौन कथा बाँचनी है तुम्हें ?"

"तो तुम राजी हो मेरे कल से स्कूल न जाने पर ?"

"घर का ठीक-ठीक काम करोगे तुम ?"

"काम तो करूँगा ही माँ ! आदमी कभी खाली बैठ नहीं सकता ।"

"तुमने फिर वही लडाई-झगडा आरम्भ कर दिया तो फिर क्या लाभ ? तुम्हारे स्कूल जाने से पढाई-लिखाई कुछ भी न हुई तो क्या टोटा है, गाँव वाले छ-सात घंटे के लिए बेखटके तो रह जाते हैं ।"

"लेकिन लछमियाँ कल से स्कूल नही जायगा, नही जायगा, नहीं जायगा।"

"दूध तो है नही, बिल्ली पी गई। चाय कैसे बनेगी?"

"लोटा लाओ, कही से माँग लाऊँगा।" लोटा लेकर लछमियाँ निष्क्रान्त हुआ।

कैसी रग-भरी चाल से चाय ग्रामो के भीतर धँस पडी थी! ये पहाडो के ग्राम, दूध-दही की नदियाँ बहती थीं यहाँ। वे स्रोत कहाँ सूख गए? वह श्री कहाँ विलीन हो गई? अधिक-से-अधिक पानी मे कम-से-कम दूध मिलाकर कुछ चीनी और पत्ती के संयोग से हमने उसे यह नाम दिया है। इसने क्या हमारे स्वास्थ्य पर प्रहार नहीं किया है? जहाँ दूध-दही अतिथि-सत्कार का प्रमुख साधन था, वहाँ आज चाय के गिलास-पर-गिलास बढ़े चले आते है। क्या यही हमारे बढ़ चलने का चिह्न है? पहाड के ग्रामवासी दूध-दही का बेचना पाप समझते थे, उसमें अर्थशास्त्रीय भावना के पड जाने से ही क्या हमारी यह लक्ष्मी हमसे रूठ गई? आज औषधि के अनुपान के लिए भी दूध दुष्प्राप्य है। भगवान के चरणामृत तक भी क्या चाय दौड़ पड़ेगी?

यह विष की बेल किसने फैला दी यहाँ? क्या उन विदेशी व्यापारियों ने जिन्होने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे यहाँ चाय के बगीचे स्थापित किये थे? वे सब उजड गए; उनमे से एक भी हर-भरा नहीं है आज यहाँ। उनके बगीचे भी उजड गए; उनकी उगाई हुई चाय के पेडो की पंक्तियाँ भी टूट गईं, सूख गईं और फिर जंगलो में बदल गईं। परन्तु रस-रूप मे चाय बह चली, बढ चली।

भारत ने करवट बदली; वह आन्दोलित हुआ, जाग्रत हुआ और चारों ओर से ध्वनियाँ ऊँची हुईं—

"बढ चलें! बढ़ चलें!"
"बढ़ चलो! बढ़ चलो!"

और हम बढ चले। किधर बढ चले? बढ़ने की धुन मे किसको अवकाश था कि देखे हम किधर बढ रहे है!

वह नाना प्रकार की ध्वनियो का युग था। चाय के प्रचारक ने भी अपनी ध्वनि जगाई—"सबसे सस्ता और निर्दोष पेय चाय है।" उसकी ध्वनि खप गई।

रेल के स्टेशनो से देश मे और मोटर के स्टेशनों से यह पहाड़ मे फैलने लगी। विदेशी शासको के बसाये हुए सैन्य-निवास और ग्रीष्म-निवासो ने इसे आश्रय दिया। भारत की बडी-बडी कनक नगरियो के होटलो से इसने अपना मोहक मन्त्र-जाल फेंका।

आन्दोलनो के साथ-साथ चाय का प्रचारक भी ग्रामो की ओर चला। उसने ग्रामीण पृष्ठभूमि पर गाँववालो के चित्र बनाये और उन्हें चाय पीता हुआ दिखाया। उसने हर 'वखत, चाय का वखत,' प्रचारित कर दिन तथा रात का मेल मिलाया और 'चाय गरमियो मे ठंडक और जाडों मे गरम रखती है,' कहकर वर्ष के दोनो सिरे जोड दिए। उसने बच्चे से बूढ़े तक को जीत लिया तथा उसने ग्राम और नगर दोनों को सयुक्त कर दिया।

प्रचारक ने मुडनेवाली मेज कुरसियाँ, गैस का चूल्हा, एल्यूमीनियम के बर्तन, चाय के बंडल और दूध-चीनी साथ लेकर यातायात के नाके घेर लिये। 'धरतीमाता का अमृत मुफ्त मे पी लो,' की ध्वनि जगाकर उसने जानेवालो को आकृष्ट किया। ग्रामोफोन मे सिनेमा की 'वफाई और बेवफाई' के गानो के तवे बजाने आरम्भ किये। लोगों ने फोकट मे कई दिनो तक उस अमृत का पान किया। कुछ दिन बाद प्रचारक ने पैसे-पैसे की पुड़ियां उनके हाथ उनके घर भेजने का क्रम बांध दिया। जब जनता मे अमल अंकुरित हो गया था, तो वह फोकट की पिलाने वाला आँखो स ओझल हो गया था। लेकिन पत्ती पीनेवालों के चूल्हों तक पहुँच चुकी थी और आगे वह कहाँ मिलेगी इसका भी पता छोड गया था वह 'दिल खुश करने वाला' प्रचारक।

चाय अकेली ही नहीं घुसी हमारे ग्रामो के भीतर, वह अपने साथ के लिए बिस्कुट और डबलरोटी को भी खींच लाई। वे बासी, सूखे और रुखे बिस्कुट! वे बीमारियो के प्रसारक, मैले-कुचैले हाथो से स्थानांतरित होते हुए किसान की चाय मे डुबकी लगाने लगे और उसके पेट मे जाने लगे। उन डबलरोटियो के टुकडो पर हमारे जीवन का उच्च स्तर स्थापित हुआ; उन्होंने हमारे विकास की सूचना दी और वे हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक बने।

किसान ने अन्न उपजाया और वे साँचों मे ढले और कटे बिस्कुट नगरों से बनकर उसके लिए चले। क्या यह उसी बात की पुनरावृत्ति नहीं हुई कि रुई हमने उत्पन्न की और लज्जा हमारी ढकी मानचेस्टर ने। वस्त्र मनुष्य को बाहरी दिखावा देता है, क्या भोजन उसकी भीतरी रचना नहीं करता—उसकी शारीरिकता की और अवश्य ही उसके विचारों की भी?

लोटा लेकर लछमियाँ चला दूध की खोज मे। घर के बाहर आया आँगन की दीवार में चढ़कर उसने चारो ओर दृष्टि फेंकी। एक पड़ौसी की गाय चर रही थी दूर खेतों पर। वह आँख बचाता हुआ उसके निकट जा पहुँचा।

उसके अपनी भी गायें थीं, कुछ देर में आ ही पहुँचतीं वह। पर चाय पीने के लिए उसे जल्दी थी। पड़ौस मे माँगने मे भी उसे सहज ही दूध मिल सकता था। परन्तु चोरी की मिठास मुँह लग जाने पर वैसी माधुरी और कहाँ मिल सकती है?

लछमियाँ ने गाय के थन के नीचे लोटा रख ज्योंही उस पर हाथ रक्खा, त्योंही गाय पैर चलाने लगी। लछमियाँ ने पास ही पड़ी हुई एक रस्सी का टुकडा लेकर उसके दोनो पिछले पैरो मे गाँठ बाँध दी और बेधड़क होकर लोटा भर लिया। रस्सी खोलकर वह चलता बना।

घर के निकट पहुँचकर उसने लोटे को देखा, दो-चार ही अंगुल

खाली था वह। उसने मन में कहा—"माँगने पर इतना दूध चाय के लिए कौन दे देगा ?"

उसने लोटे का आधा दूध घटक लिया। मुँह पोछ ही रहा था कि पीछे से पिताजी ने आकर उसका हाथ पकड लिया।

"क्या पी रहे हो बेटा !"

"खिमका के यहाँ से चाय के लिए दूध माँग लाया हूँ। दूध की रंगत देखकर कुछ संदेह हो गया था, इसी से चख लिया।"

"जूठा कर दिया। अपना जूठा हमें भी खिलाओगे बेटा ?"

"जूठा नहीं किया। ओख से पिया। और जो खट्टे बासी दूध से सारी चाय फट जाती तो ?"

"बेटा, जब हम तुम्हारी आयु के थे, तो हमने कभी चाय का नाम भी नहीं सुना था।"

दोनो घर के भीतर प्रवेश करने लगे।

लछमियाँ कहने लगा—"आपने क्या सुना और क्या देखा ? घर से खेत, खेत से घर। सच कहिए पिताजी, सुस्ती की तो चाय जानी दुश्मन है। दो पैसे की प्याली है, दिल खुश करने वाली है। क्यो माँ, क्या झूठ कह रहा हूँ मैं ?"

अक्षर और अंक न पढाने पर भी स्कूल मे पंडितजी ने बातों-ही-बातों मे लडकों की शिक्षा मे इतिहास, भूगोल, पदार्थ-विज्ञान आदि को समावेशित किया था। प्रायः सभी छात्रो का साधारण ज्ञान उनकी स्थिति और अवस्था को देखते हुए बहुत बढ़ा-चढा था।

परन्तु लछमियाँ ने उस जानकारी से अपना विष ही बढाया था। वह पंडितजी के सौम्य व्यवहार को उनकी दुर्बलता समझता। उन्होंने कक्षा में जिस दण्डविहीन शासन की व्यवस्था की थी, उस अभय मंत्र से लछमियाँ की चौर-वृत्ति की ही पुष्टि हुई।

पंडितजी लछमियाँ के अवगुणों में निरन्तर प्रकाश की भावना ही उपजाते थे। उसकी सूझ-बूझ को जानते और मानते थे वह। उन्होंने

कभी एक क्षण के लिए भी उसे अपने स्कूल का कलंक नहीं समझा। लछमियाँ उनके स्कूल में एक अशुद्ध आदर्श है, उसके वातावरण को मलिन करता है—यह विचार मे भी नहीं आया उनके। उन्होने कभी नहीं चाहा कि वह उनके स्कूल से चला जाय।

दूसरे दिन लछमियाँ सचमुच स्कूल को नही गया। उसके माता-पिता उसे समझाकर हार गए, लेकिन वह टस-से-मस नहीं हुआ।

पहले पंडितजी ने समझा, किसी कारणवश देर हो गई होगी, आता ही होगा। धीरे-धीरे स्कूल के छूटने का समय हो गया और लछमियाँ का कोई समाचार नहीं मिला।

स्कूल बन्द कर पंडितजी सोचने लगे—"कल इन दीवारो को बिगाडते हुए मैंने उसे पकड पाया, कदाचित् इसी मे उसके लज्जा उत्पन्न हो गई है। चित्र बिगाट दिए उसने, कोई बात नही है, वे फिर बन जायेंगे। परन्तु मनुष्य का वह उगता हुआ पुतला, वह न बिगडना चाहिए। मै जाकर कह आता हूं उसस कि उसका कोई अपराध नहीं है। एक अपराध की कल्पना कर उसका स्कूल को छोड देना उसके जीवन की कदाचित् विषम घटना हो जायगी और उसे ठीक-ठीक मार्ग-निर्देश न मिल सकेगा।"

पंडितजी सीधे लछमियाँ के गाँव की ओर चले। उस दिन लछमियाँ दिनभर माता-पिता के साथ ही काम करता रहा। वे दोनो सोचने लगे—"यदि ऐसी ही मति स्थिर रह गई पुत्र की तो फिर घर ही मे इसका सर्वोत्तम उपयोग नहीं है क्या ?"

संध्या-समय जब वह गाँव के एक कुत्ते की पूँछ मे एक टूटा हुआ टीन बाँधकर अनेक बालको के साथ उस बाजे का आनन्द ले रहा था, उसके पिता ने पुकारा—"लछमियाँ! लछमियाँ!"

लछमियाँ ने देखा उसके घर के मार्ग पर पंडितजी चले आ रहे थे। पिता दूर ही से उन्हे आते देखकर बिछाने के लिए कम्बल लेने दौड़

गए थे घर के भीतर। लछमियाँ भागकर छिप गया निकट ही एक गौशाला मे।

कम्बल झाड उसे चार तहों मे सकुचित कर बिछा दिया था पिता ने चबूतरे पर, पंडितजी के आने से पहले ही। उन्होंने आँगन के प्रवेश पर दोनो हाथ जोड बडे भक्ति-भाव से प्रणाम किया पडितजी को।

पंडितजी ने अभिवादन का उत्तर देकर कहा—"अच्छे तो है आप? लछमियाँ कहाँ है?"

"लछमियाँ! लछमियाँ!" फिर पुकारा पिता ने।

गौशाला के भीतर एक गाय का खूँटा उखाडते हुए लछमियाँ अपने मन मे कहने लगा—"अगर इस पंडित ने पिताजी से कोई मेरी शिकायत की तो सिर साबत न ले जाने पायगा यह यहाँ से आज। इसी खूँटे से मरम्मत कर दूँगा इसकी।" वह बहुत जोर लगाकर भी न उखाड सका उस खूँटे को। एक पत्थर से ठोक-ठोककर उसे हिलाने लगा।

फिर उसके पिता की पुकार गूँज उठी उस गौशाला मे—"लछमियाँ! लछमियाँ!"

पुकार का कोई उत्तर न देकर लछमियाँ गौशाला के अँधेरे कोने में सिमट गया।

"खेल रहा होगा महाराज, कहीं। अभी आ जायगा। आप विराजिए। फटा कम्बल मिला घर में। क्या सेवा कर सकते हैं हम गरीब आदमी?" दोनो हाथ जोड दिए फिर पिता ने—"केवल हाथ जोड सकते हैं आपको, कैसे कष्ट किया?"

पंतिजी ने कम्बल को बीच से खोलकर लम्बा बिछा दिया चबूतरेड पर—"आप भी बैठिए।"

"आपके साथ एक आसन पर बैठना शोभा नहीं देता मुझे।"

"यह एक झूठी श्रेष्ठता और झूठी ही नम्रता है।"

पंडितजी के आग्रह को जब किसी प्रकार वह किसान न माना तो

उन्हे हारकर उस कम्बल पर बैठना ही पड़ा।

"दूध गरम कर लाता हूँ आपके लिए।"

"नही, इसकी कोई आवश्यकता नही है।"

पिता को स्मरण हुआ, दूध है भी तो नही बचा हुआ घर में। वह बोला—"तब चाय बना लाता हूँ।" उन्होने फिर पुकारा—"लछमियाँ! लछमियाँ!"

फिर उनकी पुकार शून्यशायिनी हो गई। लछमियाँ के तीन साथी लड़के उसके गौशाला मे छिप जाने के रहस्य को अपने अधरो पर की मीठी मुस्कान से ढककर आँगन के एक कोने में खड़े हो गए।

"धन का भी अभाव है महाराज, और मेरे पास आपसे बोलने योग्य भाषा भी नही है।"

"ये सब जीवन की बनावटें हैं। इन्होने हमें जटिलता दी है। इनसे परदा पड़ गया है और हमे अपने स्वरूप का सहज ज्ञान दुर्लभ हो गया है।" पंडितजी ने कहा।

क्या जानें कहाँ तक वह सीधा-सादा किसान पंडितजी की बातो को समझा। उसने उत्तर दिया—"आप ज्ञानी हैं महाराज! हम लोगों का सौभाग्य है जो आप हमारे बीच में आये हैं। कितना ही सोचता हूँ आपके निकट आकर आपके सत्संग मे कुछ ज्ञान की बातें सुनूँ। पर क्या करूँ खेती-पाती और गाय-बैलो के बीच में ऐसा उलझ जाता हूँ, पानी पीने का भी अवकाश नही मिलता।"

"ज्ञान ऐसी ढूँढने योग्य कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है। वह मनुष्य के लिए जितनी उपयोगी है, उसे हवा और पानी की भाँति उतना ही सहज प्राप्य होना चाहिए। मैं कहता हूँ जितना ही नगर की ओर बढ़ोगे बनावट मे उतने ही घिर जाओगे और जितने ग्राम के निकट चलोगे उतनी ही स्वाभाविकता तुम्हारा स्वागत करेगी।"

"धन्य हो पंडितजी, आपके बिना और कौन हमे ऐसे ज्ञान की बात सुनाता। तमाखू भर लाऊँ महाराज?"

"नहीं, तमाखू नहीं पीता।"

"बीड़ी ले आता हूँ।"

"नहीं, उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं है।"

"पंडितजी, क्या वेतन मिलता है आपको स्कूल मे?"

"केवल भरण-पोषण का लेता हूँ।"

"बस! जमा करने को?"

"पैसा जमा करने से लोकोपकार जमा करना श्रेष्ठ है।"

"धन्य हो पंडितजी, तभी तो मै कहता रहता हूँ, आपके आ जाने से हमारे सारे गाँव में उजाला हो गया। बाल-बच्चे कितने है आपके?"

"कोई नहीं है," पंडित ने अपनी निराशा संभालकर उत्तर दिया।

"तभी तो। स्त्री?"

"स्त्री भी नहीं है।"

"विवाह नहीं किया?"

"स्त्री मर गई।"

किसान ने समवेदना के स्वर ऊँचे किये—"राम, राम! फिर दूसरा विवाह क्यो नही किया आपने? अभी तो पहले ही विवाह के योग्य अवस्था है आपकी। फिर सन्तान भी तो कोई नहीं।"

"क्या रक्खा है विवाह मे?"

"माता-पिता हैं?"

"हाँ घर ही पर, नगर मे।"

"और आपने ग्राम की ओर पैर बढा दिए। मैने सुना है आप बहुत पढ़े-लिखे है। नगर में क्यो कोई नौकरी नही मिली आपको?"

"मैने छोड दी।"

किसान के मन में भ्रम उपज गया। वह सोचने लगा—"नौकरी छोड़ दी नगर की? विवाह भी नही किया। तीस-पैंतीस की अवस्था

है इनकी, कोई-न-कोई बात अवश्य है।" उसने फिर पूछा—"और भाई-बहन भी होंगे ?"

"हाँ, क्यों नहीं ?"

"माता-पिता के लिए तो ठीक ही है, परन्तु आपके लिए ?"

"मेरे लिए क्या बुरा है ?"

"इतनी छोटी अवस्था में क्यों हो गया आपको वैराग्य ?"

पंडितजी ने अधूरी हँसी में कहा—"कहाँ हो गया वैराग्य ? मैं तो वैराग्य को मनुष्य की निष्क्रियता समझता हूँ। जब तक जीवन है, कर्म छूट नहीं सकता तब तक। जितना ही कर्म को छोड़ भागते हैं हम, उतना ही वह हमारा पीछा करता है।"

"फिर नगर छोड़कर आपका यहाँ आने से मतलब ?"

"नगर छोड़ा कहाँ है ? छुट्टियों में घर जाता ही हूँ।"

"लेकिन एक बात मान लीजिए पंडितजी, विवाह कर ही लीजिए। जब संसार के जेल में है आप, तो बेडी भी पहननी ही चाहिए। खाने-पीने का क्या प्रबन्ध है ?"

"अपने ही हाथ से कर लेता हूँ।"

"नहीं, नहीं, यह भी कोई बात हुई ? दिन-भर दिमाग का काम और प्रभात-संध्या चूल्हा फूँकना। चूल्हा-चौका कौन करता है ?"

"सब अपने ही हाथ से।"

"किसी के हाथ का खाने में कुछ विचार है, तो चौके-बासन में भी क्या छूत-छात है ? नहीं, मैं लछमियाँ को दोनों जून आपके यहाँ भेज दूँगा। वह सब कर दिया करेगा।"

"किसी विशेष नियम-पालन के लक्ष्य पर ही अपना काम स्वयं करता हूँ। छुआ-छूत का कोई मतलब नहीं है।"

"जब छुआ-छूत नहीं मानते हैं तो फिर नियम की पालना कैसी ? मैं भेज दूँगा लछमियाँ को, कैसे नहीं जायगा वह ?"

"लछमियाँ है कहाँ ? जिन बालकों की शिक्षा से उन्हें आगे बढ़ाने

का भार सिर पर लिया है उनसे अपनी सेवा कराना मेरे नैतिक पतन का साक्षी होगी।"

"वाह महाराज, गुरु की सेवा, यह तो सनातन काल से चली आई है। आपकी सेवा कर तो उसे लाभ ही पहुँचेगा।"

"लछमियाँ है कहाँ?"

"कहाँ है लछमियाँ?" किसान ने निकट खड़े हुए छोटे-छोटे बालकों से पूछा।

वे आपस में एक-दूसरे को देखने लगे। किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

पंडितजी बोले—"आज वह स्कूल नहीं आया। क्या कारण है? अस्वस्थ तो नहीं हो गया था?"

"नहीं तो!"

"फिर क्यों? पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ। उसकी एक दिन की भी अनुपस्थिति नहीं है।"

"उसका स्कूल जाना मेरे लिए अचरज की बात है, न जाना बिलकुल नहीं।"

"क्या बात हो गई फिर? क्यों नहीं आया वह?"

"भली चलाई उसकी। कल को मैं कान पकड़कर ले आऊँगा, पहुँचा जाऊँगा।"

"नहीं, नही, बरजोरी करने की आवश्यकता नहीं है। फिर स्कूल क्या, वह तो उसके लिए कारागार हो गया। जब मन ही उसका साथ न देगा तो आपके साथ से क्या होगा? ऐसी दशा में वह क्या सीखेगा वहाँ?"

"लेकिन मै तो समझता हूँ अब उसका मन···" कहते-कहते लछमियाँ के पिता ने बात की दिशा उलट दी—"मैं बुला लाता हूँ उसे महाराज, आप स्वयं उससे पूछ लीजिए।" पास खड़े बालकों में से एक से बोले वह—"लछमियाँ कहाँ है?"

उसने सिर हिला दिया; दूसरा हँस पड़ा; तीसरा दूसरे के कान मे कुछ कहने लगा।

पिता आँगन से बाहर को चले। लड़कों ने उनका अनुसरण किया। जब इधर-उधर कहीं न दिखाई दिया तो उन्होंने फिर लड़कों से पूछा—"कहाँ है ?"

एक ने गौशाला की ओर उँगली दिखाई। पिता की आहट पाकर लछमियाँ गौशाला से निकल भागा। पिता ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया—"बड़ी देर से पंडितजी आकर बैठे हैं बेटा, बड़े अच्छे आदमी हैं। तुम्हे बुला रहे हैं।"

लछमियाँ कुछ रोने के स्वर में बोला—"लेकिन मैंने कहाँ उनकी दीवारें बिगाड़ी हैं ?"

"कौनसी दीवारें ?"

"उनके स्कूल की और कौन ?"

"ऐसा तो कुछ नहीं कहा है उन्होंने।"

"झूठे हैं। हाथ छोड़ दो, तो चलूँगा।" लछमियाँ ने हाथ छुड़ा लिया और रोष में भरा आँगन की ओर दौड़ गया। पंडितजी को देखते ही दूर से चिल्ला उठा—"मैंने नहीं बिगाड़ी हैं आपकी दीवारें।"

पंडितजी कम्बल पर से उठकर कहने लगे—"मैंने कब यह कहा लछमियाँ ?"

"लेकिन मैं पहचानता हूँ तुम्हारा मतलब।"

"नहीं, दीवारें किसी ने भी नहीं बिगाड़ी हैं। वे चित्र पुराने पड़ जाने से स्वयं ही बिगड़ गए। मैं उनके स्थान पर दूसरे चित्र बनाने के लिए उनको मिटाना ही चाहता था।" पंडितजी ने अपनी सहज सौम्यता के साथ कहा।

"कौन चित्र बनाएँगे आप उनकी जगह पर ?"

"जो भी कहो तुम, वही।"

"चित्र एक धोखा है !"

"कैसा धोखा ?"

"वह चलता नहीं है। आपने मोटर का चित्र बना दिया। चला वह कभी ? बरस बीत गया और वह जहाँ-का-तहाँ ! क्या बढ चले हम ? उसके स्थान पर आदमी ही बना दें तो वही किस काम का ? खडा रहेगा एक सिल की भाँति जहाँ बना दिया जायगा।"

पंडितजी कहने लगे—"तुमने जो मन का भाव इस प्रकार स्पष्ट कह दिया, वह तुम्हारी उज्ज्वलता है, और झूठी हाँ-में-हाँ मिला देने की नम्रता से कहीं बढकर है। चित्र सचमुच एक वास्तविकता नहीं है। उसमें जो मोटाई है वह एक कल्पना है। अच्छा हम प्रतिमूर्तियाँ बनाएँगे।"

"मोटर की प्रतिमूर्ति बनाएँगे; चल सकेगी वह ?"

पंडितजी चुपचाप सोचने लगे—"नहीं चल सकेगी वह।" उनके यथार्थवाद का बहुत दिन से ऊँचा किया हुआ स्तम्भ लछमियाँ के एक छोटे-से तर्क से भूपतित हो गया। वह बोले—"अच्छा नहीं बनाएँगे कुछ भी।"

"फिर सच्ची मोटर लाएँगे ?"

"सच्ची मोटर कहाँ से लाएँगे ?"

"फिर आगे कैसे बढेंगे ? पैदल ही क्या ? पैदल भी तो बढा जा सकता है, यदि आप उस स्कूल की परिक्रमा छोडकर सीधी सडक पर चलें तो।"

"अच्छा यही कुछ सोचेंगे। कल को स्कूल आना।"

"फिर स्कूल की क्या आवश्यकता है ? नहीं आऊँगा मैं, उसके चारो ओर चक्कर काटने के लिए। वह भी क्या आगे बढना है ?"

पिता कहने लगे—"जायगा बेटा, क्यो नहीं जायगा।"

"सौ बात की एक बात कह दी। नही जाऊँगा पिताजी।"—लछमियाँ ने हठपूर्वक उत्तर दिया।

पंडितजी निराश होकर लौट गए और लछमियाँ फिर स्कूल नहीं गया।

चार

. . . .

लछमियाँ फिर स्कूल नहीं गया। कोई हिला नहीं सकता था उसको उसकी हठ से और पंडितजी किसी के ऊपर बलपूर्वक अपनी मनोवृत्ति लाद देना भी नहीं चाहते थे। लछमियाँ ने स्कूल को अपने बढ़ चलने की बाधा समझा और उसका परित्याग कर दिया।

यह एक छोटी-सी घटना पंडितजी के मन में गहरा चिह्न बनाने लगी। तीस लडकों में से एक लडके का भी चला जाना उनको दिन-रात खलने लगा। वह उसे अपनी दुर्बलता में सम्मिलित करने लगे। स्कूल के प्रति उनका उत्साह घट चला। उनकी विचार-धारा टूट गई। आत्म-विश्वास जाता रहा। सिद्धान्त पोले प्रतीत होने लगे और वह प्रयोग एक पाखण्ड-मात्र जान पड़ने लगा।

कुछ समझ ही नहीं सके वह, क्या करें? वह स्कूल उनके जीवन का विद्रूप-सा उनकी आँखों में गड़ने लगा। वह मन में सोचने लगे—"बिना अपना सुधार किये यह जो लोक-सुधार की प्रेरणा मेरे मन मे उदित हुई है, वह सर्वथा एक अशुद्ध वस्तु है। जब मेरा ही मन मेरे वश मे नहीं है, तो कैसे मैं एक पूरी कक्षा का मन अपने हाथ में ले सकता हूँ।"

वह सोचने लगे—"लोक-निन्दा होगी? लोक-निंदा कैसी? क्या मैं अपने उद्देश्य में मलिन हो रहा हूँ? क्या मेरा लक्ष्य स्वार्थ-सिद्धि था? एक प्रयोग ही तो मैंने हाथ में लिया था यह? वह सफल भी हो सकता था, विफल ही हो गया तो मैं क्या करूँ? मैं अधिकारियों के निकट जाकर स्पष्ट ही अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लूँगा।"

परन्तु अभी तक उनके मन में विश्वास की एक जड़ जमी हुई थी कि लछमियाँ स्कूल लौट आयगा एक दिन, परन्तु लछमियाँ नहीं लौटा।

लछमियाँ के उपद्रव गाँव मे और भी परिपक्व तथा जटिल हो उठे। वह गाँव में चारों ओर पंडितजी के स्कूल की हँसी उड़ाता, उनकी शिक्षा-प्रणाली के प्रहसन रचता और कभी-कभी रात को उनके निवास की टीन की छत पर पत्थरों की वर्षा कर उन्हें डराता।

अन्त में पंडितजी ने एक दिन स्कूल के बन्द कर दिए जाने की घोषणा कर दी। यह समाचार सुनते ही लछमियाँ दौड़ा-दौड़ा पंडित जी के पास पहुँचा। उसने बड़े भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम किया।

पंडितजी बड़े असमंजस में पड़ गए। उन्होंने पूछा—"क्या है लछमियाँ ?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही देखने आया हूँ। सुना है आपने स्कूल में छुट्टी दे दी।"

"हाँ।"

"कितने दिन की ?"

"सदा-सर्वदा की।"

झूठ-मूठ आश्चर्य का भाव व्यक्त कर लछमियाँ कहने लगा—"क्यों ? क्यों बन्द कर दिया ? गाँव में एक अच्छी चहल-पहल हो रही थी। आपको बर्तन मलने और चूल्हा फूँकने का कष्ट था यहाँ। स्कूल बन्द न करें आप।"

"तुमने तो स्कूल आना ही छोड़ दिया।"

"एक मेरे न आने से ही आपको इतना बुरा न मानना चाहिए था। चौका-बासन करने आपके यहाँ आने को मैं अब भी तैयार हूँ।"

"मुझे यह स्वीकार नहीं। मैं अपने को समाज का सेवक समझता हूँ, किसी से सेवा लेनी मुझे स्वीकार नहीं।"

"वेतन दे देना कुछ महीने-महीने।"

"नहीं लछमियाँ।"

"यहाँ से अब आप कहाँ जायँगे ?"

"देखो।"

"अगर कहीं देस-परदेस बढ़ चलने का विचार हो तो मुझे साथ ले चलिए। हम एक-दूसरे की आदतों को पहचान चुके हैं। कोई कष्ट न आने दूँगा आप पर। झगडे की जड तनखाह है, वह पहले ठीक-ठीक तय कर दीजिए।"

"देस-परदेस कहीं नहीं जाऊँगा।"

"फिर क्या किसी दूसरे गाँव में स्कूल खोलिएगा ? लेकिन एक बात है पंडितजी। मुफ्त का ऐसा स्कूल न खोलिएगा। मैं कहता हूँ, यहाँ आपने लडको से कोई फीस नहीं ली, आपके स्कूल के यहाँ न चल सकने का मुख्य कारण यही है।"

"स्कूल भी नहीं खोलूँगा कहीं और।"

"फिर दुकान खोल लीजिए नगर मे, आप बही लेकर बैठें और मैं तराजू लेकर। भारी-भारी काम सब मेरे जिम्मे। बोरियाँ रखना-सँभालना, भरना-खाली करना, तोल-ताल, छान-बीन, दौड़-धूप सब मेरी, गद्दी में बही और चाँदी सँभालने का सारा काम आपका।"

"नहीं लछमियाँ, मैं ग्रामों की ओर बढ़ चला हूँ।"

"और मैं पंडितजी मैं नगरों की ओर, लेकिन पंडितजी, बढ़ना तो मेरा है, आपकी चाल हो सकती है, परन्तु वह बढ़ने की नहीं पीछे हटने की है।"

"तुम्हारी बात आधी ठीक है। बढ़ना-घटना यह निर्णायक की बोली पर है। नगरवासी तुम्हारे आगमन को बढ़ना कह सकता है तो ग्राम वासी मेरे वहाँ के प्रवेश को भी 'बढ़ना' ही नाम देगा।"

"गाँव मे क्या करेंगे आप ? यह सुनसान स्थान, नाटक नहीं जहाँ, सिनेमा नहीं, रेल-तार नहीं, मेलों की भीड़ नहीं, होटल नहीं, खेल-कूद नहीं, वहाँ जाने को आप बढ़ना कहते हैं ? केवल आप ही कहते रहें,

दुनिया तो कभी नहीं कहेगी। क्या करेंगे वहाँ आप ?"

"मेरा गाँव है। खेती करूँगा वहाँ। नई वैज्ञानिक विधि से।"

"हो गया! यहाँ नई विधि से स्कूल चलाया, वहाँ आप खेती करेंगे। क्या नई विधि होगी उसकी ? मिट्टी मे ही तो बीज बोएंगे, हवा में जोताई कर सकें तो हम भी जानें।"

पंडितजी हँसने लगे।

"आपका कुछ सामान ले जाना होगा ? नगर को ही तो जायँगे आप ?"

"हाँ, वही जाऊँगा।"

"तो लाइए, कुछ मैं ले चलूँ। नगर में चलकर कहीं मेरी नौकरी ठहरा दीजिएगा।"

"क्या नौकरी कर सकोगे तुम ? पढ़ने-लिखने में मन दिया नहीं तुमने।"

"पढ़ाया-लिखाया ही कहाँ आपने। पूरे एक वर्ष स्कूल की दौड़-धूप की तो थी मैंने। चौका-बासन करूँगा किसी के यहाँ, धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों अनुभव होता जायगा बढ़ चलूँगा आगे। विद्या एक किताब ही की थोड़े है पंडितजी, और भी अनेक विद्याएँ हैं।"

"तुम्हारे पिता की अनुमति है ?"

"पिता की क्या अनुमति ? पंडितजी, परिश्रम करूँगा मैं, नौकरी होगी मेरी, वह तो चाहते ही हैं—एक वही क्या सारा गाँव चाहता है लछमियाँ जाय यहाँ से। क्या करूँ ? विवश होकर ही मुझे बढ़ना पड़ रहा है।"

परन्तु पंडितजी उसे अपने साथ नगर को लाने के लिए सहमत नहीं हुए। लछमियाँ चिढ़कर बिना उनसे विदा लिये हुए ही चला गया।

पंडितजी चले गये। उनके स्कूल में फिर वही अपर प्रायमरी स्कूल खुल गया। उस असफल प्रयोग के कुछ सफल अनुभवों को लिखकर पंडित जी ने अधिकारियों को दे दिया। उस निबन्ध के अन्त में उन्होंने सार

रूप से यह लिखा था—"मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की पद्धति का शिक्षा मे सफल उपयोग हो सकता है। मेरे प्रयोग की असफलता मेरी अपनी दुर्बलता है।"

पंडितजी के जाने के पश्चात् वर्ष-भर तक लछमियाँ प्रातः-सन्ध्या गाँव के बालकों की पलटन एकत्र कर उनके 'बढ़ चलो' गीत को प्रतिध्वनित करता रहा। फिर धीरे-धीरे उस गीत मे किसी की रंजकता न रही।

लछमियाँ बढ़ चला। एक-दो-तीन-चार वर्ष बीत गए। लछमियाँ युवक हो चला। उसके उपद्रवों ने गम्भीर और विकट रूप धारण करना आरम्भ किया।

बाहर खेत और उद्यानो से फल-फूल की चोरी करने वाला लोगों के घर-भीतर की वस्तुओं पर भी हाथ मारने लगा। लोग घबरा उठे। लछमियाँ के पिता भी चिन्तित रहने लगे कि क्या किया जाय।

काम करने मे उसका बिलकुल मन नहीं लगता था। पंडितजी के स्कूल में उसने जिस बाहरी जगत का चित्र पाया था, वह उसे बनाने का नहीं, बिगाड़ने का कारण हो उठा।

उसके गाँव से छः मील की दूरी पर मोटर की सड़क पर स्थित तिपनियाँ नामक एक स्थान था। कुछ दूकानें थीं वहाँ पर। तीन-चार गाँवों के मार्ग मिलते थे। आती-जाती मोटरें ठहरती थीं, पानी लेती थीं। यात्री भी पेट-पूजा कर लेते थे।

तिपनियाँ में आस-पास के गाँवों का एक सहकारी संघ भी था। उससे थोड़ी-थोडी दूरी पर पाँच-सात बँगले भी बने हुए थे। ग्रीष्म में वे सब-के-सब बँगले दृश्य-अन्वेषकों, मैदान के ताप से छुटकारा पाने वालों, संघर्ष से अवकाश ढूँढने वालों से भर जाते थे।

उन प्रवासियों के दूध-दही, साग-पात, बीड़ी-सिगरेट के अतिरिक्त कभी-कभी खाद्य-सामग्री के संग्रह का भी केन्द्र तिपनियाँ था। ग्रीष्म-निवासियों के नौकर-चाकर भी किसी काम से या समय निकालकर

बहुधा तिपनियाँ में आया-जाया करते और उसकी चहल-पहल को बढ़ाया करते थे।

तिपनियाँ का जलवायु सुन्दर स्वास्थ्यप्रद था। उत्तर की ओर चीड के सघन वनों से आच्छादित विशाल तीन पर्वत-श्रेणियों ने हिमालय की सारी दृश्यावलि ओट मे कर रखी थी, परन्तु दक्षिण की ओर खुलती हुई एक मनोरम घाटी ने उसे मनोहरता दे रखी थी। पहाड़ नीचे होते हुए मैदान में मिल गए थे और मैदान फिर ऊँचा होकर दृष्टि-रेखा तक चढ़ गया था। ग्रीष्म में वह मैदान की दृश्यावलि आकाश के रंग पहन छिपी रहती है और वर्षा में बादलों से, परन्तु शरद और वसन्त में अद्भुत दिखाई देती है। खेती-वन, पथ-नदियाँ, ग्राम-निवास अपने धूसरित रंगों में एक विचित्र स्वप्न जाल-से प्रतीत होते हैं।

घाटी के बीचोंबीच रजत की रेखाओं मे चमकती हुई एक नदी बहती है। कहीं सीधी और कहीं-कहीं लहराती हुई पहाड़ों के मोडों में छिपती-प्रकटती शून्य में अदृश्य हो जाती है।

सडक के नीचे तिपनियाँ का गाँव है। सडक और गाँव के बीच में एक पहाड़ की समतल चोटी पर दो-तीन पीपल के पेड हैं। एक टूटी-फूटी दशा में भूमि-देवता का मन्दिर है और एक धर्मशाला है। धर्मशाला में कुली-मज़दूरों का अड्डा बना रहता है सदैव ही। वे लोग वहाँ खाना भी पकाते हैं और रात को विश्राम भी करते हैं। चारों ओर कोयला-कचरा फैला रहता है।

मन्दिर केवल नाममात्र का है वह। कभी शायद कोई पूजा लेकर वहाँ आता है, नहीं तो दूर ही से यात्री मन्दिर को हाथ जोड़कर चले जाते हैं। मज़दूरों ने ही वहाँ अपना आधिपत्य जमा रखा है। मज़दूर भी अनियमित मज़दूरी के हैं। वे वहाँ खूब तम्बाकू-बीड़ी, चरस और गाँजे के दम लगाते हैं। चाय पीते हैं और जुआ भी खेलते हैं।

लछमियाँ आगे बढा—गाँव से वह तिपनियाँ के संसर्ग में आने लगा। प्रभात को कभी शय्या छोडने के उपरान्त ही और कभी भोजन

कर वह तिपनियाँ पहुँच जाता। कभी मिल गई तो वहाँ कुछ मज़दूरी करता, नहीं तो सारा दिन बातों ही-बातों मे बिताकर बड़ी देर बीते रात को अपने घर लौटता।

माता-पिता उसे समझाकर हार गए थे। पास-पड़ोसी कभी उससे बात भी नहीं करते थे। पिताजी उससे कहते—"अपने घर का काम न सही, कहीं दूसरी जगह ही किसी काम में तुम्हारा मन लगा होता तो सभी चैन से रहते।"

पर लछमियाँ कभी कुछ उनकी सुनता ही न था। वह उनको गाँव के कुँए का एक मेंढक समझता था।

गाँव में दीपावली के उत्सव से कुछ पहले पधानजी की गृहिणी की सोने की नथ खो गई। घर वाले सब इधर-उधर खेती-पाती में व्यस्त थे। मकान मे ताला बन्द था बाहर और भीतर सन्दूक मे बन्द थी वह नथ। टूट-फूट का कोई चिह्न नहीं मिला। सन्दूक और द्वार पर के ताले ज्यो-के-त्यो मौजूद थे।

किस सफाई से माल उड़ा दिया! गाँव वाले इसे किसी पक्के खिलाड़ी का काम समझने लगे। पहले तो ऐसी कोई घटना गाँव मे नहीं हुई। सभी को विश्वास था, वह किसी बाहर वाले का काम नहीं था।

केवल पशु-पक्षियो के डर से गाँववाले द्वार बन्द किया करते थे। तालों का व्यवहार कोई जानता ही न था। चोरी और चोर का नाम भी नहीं ज्ञात था भोले-भाले ग्राम-निवासियों को। लछमियाँ की बढ़ती के साथ-ही-साथ तालों का उपयोग भी बढ़ चला था गाँव में।

गाँव वालों की संशय की दृष्टि लौट-फिरकर बार-बार पड़ती थी लछमियाँ ही पर। वे कहते थे—"और किस बाहर वाले का इतना साहस हो सकता है जो हमारे बीच में आकर सूर्य के प्रकाश में इतनी भारी डकैती कर सकता! इसको आयु के साथ हमने इसका चोट्टापन बढ़ता देखा है। अवश्य इसको दंड मिलना चाहिए, नहीं तो इसका

पापाचार बढ़ता जायगा। यह बचपन में हमारी बेलों के खीरे चुराने वाला, धीरे-धीरे हमारे खलिहानों से अन्न चुरा-चुराकर बेचने लगा; यह हमारे घर के भीतर घुसकर ताला खोल आज हमारे धन-स्वर्ण का हरण करने लगा है और कल को—कल को यह अवश्य ही हमारे प्राणों पर भी चोट चला सकता है। इसका अवश्य कुछ प्रबन्ध होना चाहिए।"

पटवारी से कहा गया। साक्षी कुछ भी नहीं थी। वह क्या कर सकता था। 'पूछ' करनेवाले से पूछा गया। उसने उत्तर दिया—दक्षिण दिशा का चोर है, पूरब को माल चुराकर भागा है।" यह भी कोई बात हुई? अँधेरे मे एक ढेला चला दिया उसने।

पटवारी सरल और सीधे स्वभाव का मनुष्य था, उसे लोक-लज्जा भी थी और भगवान् का भय भी।

पधानजी के एक मित्र ने उससे कहा—" पटवारीजी, आपके अधिकार क्षेत्र मे एक चोर ने चोरी की और आप उसे दंड देने मे हिचकिचा रहे हैं।"

"बिना साक्षी के मैं कैसे आगे बढ सकता हूँ?"

"साक्षी उसी के मुख से प्रकट हो सकती है।"

पटवारी ने आश्चर्य से कहा—"उसी के मुख से?"

"हाँ, लछमियाँ के अतिरिक्त दूसरे ने नहीं चुराया माल। पकड़कर एक पेड़ से उलटा बाँधिए। उसे नंगा कर, पानी मे भिगाकर दो बिच्छू की शाखाएँ जमाइए उसकी पीठ पर। तीसरी की नौबत ही न आयगी। वह अपना अपराध ही स्वीकार नहीं करेगा, प्रत्युत माल भी लाकर आपके सामने रख देगा।"

पटवारीजी बोले—"और जो उसने स्वीकार नहीं किया तो? माल उसने नहीं चुराया हो तो वह निरपराध का उत्पीडन किसके माथे पर जायगा?"

"निरपराध, और, लछमियाँ?" एक ने कहा।

"दूसरा चोर और कोई नहीं है," दूसरा बोला।

"पटवारीजी, शासक को इतना कायर न होना चाहिए," तीसरे ने मुख खोला।

परन्तु पटवारीजी 'हूँ-हूँ' करते ही रह गए।

और लछमियाँ अपनी नई उगती हुई मूँछों पर ताव देता हुआ, पटवारीजी की आँख-से-आँख मिलाता नित्य उनके डेरे से होकर आता-जाता था। जब पटवारीजी का ध्यान अन्यत्र होता, तो वह खाँसता, और सीटी बजाकर उनकी दृष्टि आकर्षित करता। वह उनकी आँखों में धँसकर उनके हृदय में मानो यह आतंक जमाता—"सावधान, यदि निरपराध लछमियाँ के ऊपर कोई चोट चलाई तो वह खा जायगा।"

एक पुराना पलटनियाँ बूट मोल लाया था लछमियाँ। उसे पहन एक दिन खट-खट करता हुआ सारा आँगन बजाता हुआ जा रहा था। दिन का भोजन चटकर चढ़ाई हो रही थी उसकी तिपनियाँ पर।

पिता ने उग्र स्वर में उसका पथ रोक लिया—"लछमियाँ! कहाँ जा रहा है?"

इतने ही उग्र स्वर में बेटे का उत्तर था—"इस प्रकार टोक देना असभ्यता है।"

पिता ने कोमल पड़कर कहा—"सुनो बेटा, तुम्हारे हित की बात है।"

"कहिए, जल्दी, कम-से-कम शब्दों में," उतावला होकर बेटा कहने लगा।

पिता ने उसकी ओर बढ़ उसके कान में मंत्र-सा फूँका—"सुनो, पटवारीजी कहते हैं—"

चिल्लाकर सारा गाँव गुँजा दिया उसने—"क्या कहते हैं पटवारीजी?"

"धीरे-धीरे बेटा! जोश में मत आओ। बैठो सुन लो।" पिता हाथ पकड़कर दीवार की ओर खींच ले गए उसे।

दीवार पर बैठा तो नहीं वह, परन्तु उसने स्वर नीचा कर कहा—"क्या कहते हैं वह ?"

"कहते हैं वह, हमारे घर की तलाशी ली जायगी।"

"तलाशी क्यों ली जायगी ? क्या मतलब है उनका ?"

"पधानजी की स्त्री की नथ खो गई है।"

"उनकी लापरवाही।"

"सारा गाँव तुम पर शक करता है।"

"मुझ पर शक करता है?" लछमियाँ क्रोध में भर उठा, "कुल्हाड़ी कहाँ है ?" वह आँगन में इधर-उधर कुछ ढूँढ़ने लगा।

पिता उसका अनुसरण कर घबराते हुए बोले—"हैं, हैं, क्या ढूँढ़ने लगे तुम ?"

"कहाँ है कुल्हाड़ी ?"

"क्या करोगे उससे ?"

"चोर बनाकर लछमियाँ इस गाँव से मिटा दिया नहीं जा सकता। हत्यारा बनकर जायगा। कहाँ है कुल्हाडी ? मैं इन सबके सिर लाल कर जाऊँगा।"

"नहीं, नहीं, बेटा ! यह क्या बकने लगे तुम ?"

"बहुत दिनों से पहचानता हूँ मैं इन्हे। ये लछमियाँ का आगे बढ़ना नहीं देख सकते। आप नंगे पैर नंगे सिर इनके खेतों में परिश्रम करते हैं। लछमियाँ जूता पहनने लगा है और इनके खेतों को रौंदकर आगे बढ़ गया। इन्होंने अधिकार नामक एक शब्द बनाकर आपको मोह रक्खा है। आपके श्रम को तुच्छता देकर उपज का अधिकांश हड़प कर लेने का इनका पुराना स्वभाव है। धरती माता पर अधिकार किसका है ? जो उसे अपने श्रम की श्यामलता देता है, जो उस पर अपने आँसुओं के फूल खिलाता है। जोतने-सींचने के लिए खेत हमारे और अन्न समेट लेने के लिए इनके। चुगने-चराने के लिए गाय हमारी और दूध-घी हड़प कर लेने के लिए इनकी।"

"ऐसा नहीं कहा जाता बेटा, पधान जी सतजुगी महात्मा हैं।"

"तुमने महात्मा के माने समझ रक्खे हैं रुपया-पैसा, उनकी रंग-बार्निस से चमकती, चूने से उजली और पत्थरों से ऊँची अट्टालिका, उनकी मोटी लोहे की चादरों से छाई गई छत, और क्या? उनका एक लड़का दिल्ली मे और एक लखनऊ मे सरकारी पद पर है। वे कभी-कभी छुट्टियाँ घर पर बिताने आते हैं। नये रंग और नई काट की वेश-भूषा से, नए चलन और व्यवहार से वे आपकी आँखो मे चकाचौंध उत्पन्न कर जाते हैं। वे अँगरेजी के उच्चारण से आपके भय बढ़ा देते हैं और उनके स्त्री-पुत्र रँगे हुए मुख, नख और पॉलिश किये हुए जूतो से बढ़ा देते है आपके अचरज। क्यों पिताजी! आपने उनकी देव-कल्पना कर रक्खी है! और हम दिन-भर उनकी सेवा करने वाले छोटे-छोटे कीडे—कोई मूल्य ही नहीं हमारा! वे आभूषणों के पहनने वाले हैं और उनमे से जब एक खो जाता है, तो चोर लछमियाँ है। कौन करता है मुझ पर शक? मुझे उसका नाम बताओ।" लछमियाँ उग्र होकर बोला।

"शक? शक? कोई नहीं करता बेटा। पधानजी बड़े सच्चे आदमी हैं।"

"हमारे हाथ की छुई हुई रोटी नहीं खायँगे, परन्तु हमारे पसीने में भीगा हुआ अन्न अपने भण्डार में भर लेंगे!"

"नहीं तुम नहीं जानते, वह बडे दयालु हैं।"

"हाँ, घर में जब कोई फूल-फल सड़ने लगते हैं, खाद्य-सामग्री बच कर उसमें बदबू आने लगती है, तब वह पधानजी के माथे पर पोते गए चन्दन की उज्ज्वलता सार्थक करने के लिए आपको मिलती है कि आप उनके गीत जारी रखें। जब उनके पहने हुए कपड़ों के रंग फीके पड़ जाते हैं, जोड उखड जाते हैं और खींचने पर वे बोलने लगते हैं तब वे हमें मिलते हैं कि हम अपनी लज्जा ढककर उनकी जय पुकारते फिरें।"

"नहीं बेटा, तब तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था। तुम पधानजी

की ही शरण में पैदा हुए हो और इन्हीं की छाया में पले हो, और किसी को कहने दो, तुमको तो उनकी निन्दा सुननी भी नहीं चाहिए ?"

"क्या सत्य है उनके ? केवल एक ढोल की पोल। शंख-घंट हिला लिये प्रभात-संध्या-समय, माला लेकर सीताराम-सीताराम रटते खड़ाऊँ खटकाते हुए गौशाला मे गाय को दे आए दो ग्रास, कोई मिल गए, तो बाँटने चले फोकट के आशीर्वाद ! ये आशीर्वाद देने वाले हो गए ! धरती माता के तमाम आशीर्वाद हड़पकर इन्होंने प्रतिदिन हमारा मुँह देखते ही वह ज़बानी सम्पत्ति बरसा दी हमारी खोपड़ी पर और हम निहाल हो गए ! हमारे श्रम से ऊँची उनकी अट्टालिका ऊँची-ऊँची खिड़कियों से हम पर थूकती है और उनका आशीर्वाद इस प्रकार हमे फलता है। देखो पिताजी, अपने इस घास-पत्ती, जलाने के ईंधन और गारे-पत्थर के ढेर की ओर देखो इसी को आपने 'घर' का नाम दिया है ?"

"बुरी संगति ने तुम्हारी बोली को मैला कर दिया।"

लछमियाँ अपनी ही कहता जा रहा था—"इनके घर की महिलाएँ नई-नई साड़ियाँ पहन आँगन मे तुलसी-मंडप पर चली आई, पूजा-सज्जा हाथों पर तोलती हुई। कुछ पानी उछाल दिया सूरज की किरणों पर, कुछ गंध अक्षत और फूल बिखरा दिए तुलसी पर, कुछ हाथ जोड़-जाड़ नाच-फिरकर चली गई वे घर के भीतर। थाली में कोई टूटा बतासा, पसीजा मिश्री का टुकड़ा हुआ तो मिल गया सामने खड़ी तुम्हारी सन्तान को नैवेद्य के रूप मे ! जिसका दर्शन जीभ के सोये हुए स्वाद को छेड़ जाय और स्पर्श पेट के चारों कोनों मे हलचल मचा जाय ! वाह रे त्याग, वाह रे सत्य, धन्य रे धर्म !"

"बाढ और अकाल का मारा हुआ जब तुम्हारा पिता काली-कुमाऊँ से अठारह घाटियों में धूल उड़ाता हुआ यहाँ आया तो पधानजी ही वह पहले मनुष्य हैं जिन्होने मेरा ढाढ़स बँधाया और जीने की चिता

दूर कर दी। कमाने-खाने को खेत दे दिये, मकान बनाने को यह भूमि।"

"आप अपने को क्षत्रिय का पुत्र कहते हैं। आपका पतन क्या उस दिन नहीं हो गया, जिस दिन आपने खड्ग छोड़कर हाथ मे हल ले लिया?"

"राजा जनक नहीं चलाते थे हल? श्रीकृष्ण भगवान के बड़े भाई नहीं थे हलधर?"

"सब इन गुरुओं की माया है कि आपका हाथ हल पर ही जमा रहे और बैठे-ही-बैठे इनकी पतीलियाँ चूल्हे पर उबलती रहें।"

लछमियाँ का रोष उतर चला था। पिता ने इस प्रसन्नता को छिपाकर कहा—"पंडितजी के स्कूल ने बिगाड़ दिया तुम्हें। लेकिन पधानजी, उन्होने अपने बच्चो मे से किसी को उनके स्कूल मे भेजा तो नहीं, पर पंडितजी की बड़ी प्रशंसा करते हैं।"

"पधानजी के ही भैया थे पंडितजी भी।"

"हमारी कोई छूत-छात नहीं मानते थे। हमारे साथ उठते-बैठते थे, खाते-पीते भी थे। गरीब और गरीबी से ही बड़ा प्रेम था उनका। पधानजी की देहली लाँघते सिर्फ एक दिन देखा था मैंने उन्हें। धनी-मानी की ओर दृष्टि कभी नहीं रखी उन्होंने।"

"यह भी एक लटका है। नगर में नौकरी मिली नहीं, चले आये गाँव में अपनी खंजरी बजाने।"

"अजीब स्कूल खोल गए वह।"

"क्या खोल गए? धनी-मानियों का बेटा तो कोई आया नहीं उन्हें गुरु बनाने। मिल गए हम किसानों के बेटे। भाट और भाँडों की विद्या बजाने लगे वह हमारी खोपड़ियों पर। वह तो लछमियाँ ही है, जिसने उनका स्कूल अधिक नहीं चलने दिया।"

पिता सोच रहे थे, वह गप्प मार रहा है।

"क्षत्रिय की संतान थे; शस्त्र चलाना सीखते, बैलों को हाँकने

लगे। आगे बढ़ो की ध्वनि जगाते हुए चले पंडितजी हमें शिक्षा देने। न पढ़ना-लिखना सिखाया, न हिसाब। एक अन्धी छाया के पीछे हाँक दिया हमें। रटा दिया—'बढ़ चलो, बढ़ चलो।' हाथों में दे दिया डमरू और पैरों में बाँध दिए घुंघरू!"

"परेड तो कराते थे।"

लछमियाँ सोचने लगा, उसके पिता ने बातों-ही-बातों में उसे कहाँ-से-कहाँ उठाकर फेंक दिया। उसे फिर याद आया और उसने पूछा—"पधानजी को है क्या मेरे ऊपर कोई शक? क्या कभी आपसे उन्होंने कहा कुछ?"

"नहीं, वह तो देवता हैं?"

"फिर किसने कहा? उनके बड़े लडके ने?"

"नहीं, किसी ने भी नहीं कहा।"

"तलाशी का भय तभी हो सकता है आपको जब आपके घर में चोरी का माल हो।" लछमियाँ जाने लगा।

"खेती समेटनी है बेटा और तुम मटरगश्ती करने चले?"

"जा रहा हूँ मज़दूरी करने तिपनियाँ। खेती तो मैं करने का नहीं कभी मैं सिर खपाकर खरा पैसा हाथ मे लेना जानता हूँ। पाँच रुपये मे यह पलटनियाँ जूता खरीदा है। अच्छा तो है?"

"रुपये कहाँ से लाए?"

"यह कंघी और आइना भी।" लछमियाँ दीवार पर बैठ गया और जेब से आइना निकाल सिर के लम्बे-लम्बे बालों में माँग निकालने लगा।

"कहाँ से लाए बेटा?"

"पधानजी की स्त्री की नथ बेचकर, और कैसे? आप भी क्या बात करते हैं पिताजी? परिश्रम करता हूँ जी तोड़कर तिपनियाँ में।"

"लेकिन यह औरतों की-सी माँग क्या निकालने लगे सिरपर?

हमें तो साग में धुँआ उठाने को तेल की बूँद नहीं और तुम्हारे सिर में छुपछुपाने को इतना ?"

सिर में उँगली रगड़ लछमियाँ ने पिता की ओर बढ़ाई—"देखिए, यह साग छौंकने का तेल है क्या ? कैसे महकता है ? टोपी खोलते ही पधानजी के कोठे तक पहुँच गई होगी सुगन्ध।"

"बुरी संगति से बचते रहना बेटा ! मैंने सुना है तुम लोग वहाँ गाँजा पीते हो और ताश खेलते हो।"

"उड़ाने वालों की क्या कहते हो। दिन-भर की मेहनत के बाद कभी कुछ हँस-बोल लिए तो क्या हो गया जुल्म। किसने कह दिया कि तिपनियाँ में अच्छी संगत नहीं है ? देश के एक-से-एक बड़े विद्वान् और धनी-मानी पुरुष वहाँ निवास करने आते हैं। घर से बाहर तो पैर खिसकाते नहीं हो और यहीं बैठे-ही-बैठे नापने लगते हो तीनों लोक।"

"तुम जानो, अब दूध-पीते तो हो नहीं।"

"हम एक कम्पनी खोल रहे हैं तिपनियाँ में।"

"कम्पनी क्या हुई ?"

"जिसका नाम पंडितजी ने यहाँ भूल से स्कूल रख दिया था।"

"क्या होगा वहाँ ?"

"जो कम्पनियों का होता है और क्या ? साहब लोग अगर कोई बढ़िया चीज यहाँ छोड़ गए हैं, तो कम्पनी ही है।"

पिता केवल सिर हिलाने लगे।

"किसानों की दशा सुधारने के लिए लेक्चर भी दिए जायंगे, लिख-पढ़ भी होगा।"

"तुम तो अपढ़ हो ?"

"देश के एक नेता आये हैं। तिपनियाँ के एक बंगले में ठहरे हैं। मोटर से उतारकर सामान पहुँचाया था मैंने उनका। बातों-ही-बातों से मेरी दोस्ती हो गई उनसे। बड़े बढ़िया आदमी हैं। इस पहाड़ पर जो प्रकृति का रूप बिखरा पड़ा है, उसे देखकर वह बड़े प्रसन्न हैं। परन्तु

हमारी निर्धनता उन्हें असह्य हो उठी है पिताजी !"

"क्या निर्धनता है हमारी ? अपने-अपने करम, अपना-अपना भाग !"

"यह भाग्य की बाँट ही तो हमारा दुर्भाग्य है, वह कहते हैं—मनुष्य-मात्र सब बराबर ही हैं।"

"पाँचों उँगलियाँ बराबर ?"

"और नहीं तो क्या ?"

"पढ़ा-लिखा और बेपढ़ा दोनो एक ?"

"हाँ दोनों एक—बिलकुल एक। भाग्य और अवसर इन दोनों में से कोई कुछ नहीं। अट्टालिका मे उत्पन्न हो जाने से एक बालक सोने के चम्मच से दूध पीता है और दूसरा झोपड़ी मे पैदा हुआ दूध के लिए भी तरसता रह जाता है। यह भेद मिटा दिया जायगा।"

"यह भगवान् का बनाया हुआ है।"

"यह मनुष्य की रचना है।"

"उसे कोई मिटा नहीं सकता।"

"वह खुद ही मिटता चला जा रहा है। आप तो इस गुफा में रहते हैं। दुनिया के प्रकाश का कुछ पता भी है आपको ?" लछमियाँ बोला।

"पधानजी और हम, हम भी दोनों एक ?"

"एक,बिलकुल एक।"

"वे पढ़े-लिखे हैं।"

"हम परिश्रम करते हैं।"

"वे ऊँचे चौतले घर में रहते हैं।"

"हम भी रहेंगे ? हमारा घर भी ऊँचा होगा।"

"कैसे होगा ?"

"उनकी ऊँचाई इतनी गिरा दी जायगी कि हमारी निचाई से मिलकर सब बराबर हो जायँगे।"

"भाग्य कोई न्यायकर्ता नहीं है। न्याय करेगा 'श्रम', समझते

हैं आप श्रम; हमारे कर्म। जो श्रम करेगा, उसी को खाने का अधिकार होगा। दिन-भर तकिए-गद्दों के सहारे ये बक-बक करने वाले मक्खन-मेवे उडाने न पायँगे।"

"कहाँ से यह द्वेष उपजा लाए तुम अपने मन मे? अरे जिनका सुख बडा है, उतना ही दुख भी तो उनका बड़ा है। मैं तो फिर तुमसे कहूँगा, पंडितजी ही यहाँ स्कूल खोलकर तुम्हारी बुद्धि में विष मिला गए हैं। हम सन्तोष से रोटी खा रहे थे। वह आकर तुमसे कह गए—'लछमियाँ तेरी रोटी रूखी है।' तूने चुपडी के फेर मे पड़कर अपनी बेचैनी बढ़ा दी।"

"पंडितजी हमें आगे बढ़ाने आये होंगे, परन्तु उन्होंने हमे समता का उपदेश कभी नहीं दिया। बढ़े हुए को पीछे करने से तो हमारी उन्नति में वेग पैदा नही कर दिया जा सकता। लेकिन उनका हमे आगे बढ़ाना एक भुलावा ही था। वे मोटर, रेल और हवाई जहाज के तीनों चित्र झूठे थे, इसी से मैंने मिटा दिए। पधानजी को नीचे उतरना पड़ेगा ही पिताजी। वह यदि खेत में परिश्रम न कर सकेंगे तो एक भी दाना उनके भंडार में जाने न पायगा।"

"लछमियाँ, तू इस गाँव में अब नहीं रह सकता।"

"हाँ, बढ़ चला मै बढ़ चला!" कहकर लछमियाँ उठकर जाने लगा।

"तू बहक चला! बहक चला! तूने बहकने का नाम बढ़ना रख दिया।"

"कहाँ के बखेड़े में मेरा बखत बरबाद कर दिया,", बडबड़ता हुआ लछमियाँ चला गया।

पिता को एक सन्तोष था, लछमियाँ शान्ति के साथ गया। वह चिन्ता करने लगे—"यह लड़का पढ़ा-लिखा नहीं है, लेकिन बातें करने में बड़ा चतुर हो गया है। लोग झूठे ही उस पर नथ की चोरी लगा रहे हैं। क्या वह पधानजी की नथ चुराकर छोटे-बड़े का भेद मिटा रहा है?"

गृहिणी खा-पीकर जूठे बरतन लेकर बाहर निकली। सारा आँगन धूप में चमक रहा था। निकट ही एक खेत में आड़ू के पेड़ से बँधी बछिया कुछ तिनके चबा रही थी। गृहिणी की परछाईं पाकर बोल उठी—"माँऽऽ"

कड़ाई में कुछ धोवन और कुछ भात था; गृहिणी ने बछिया के सामने रख दिया। हाथ धो, कुल्ली कर वह पति के सामने आई—"क्या बड़बड़ा रहा था ?"

"दिमाग खराब हो गया है इस लड़के का। जान पड़ता है यह हमे अब इस गाँव में नहीं रहने देगा।"

"मैं कहती हूँ, तुम कुछ बोला ही मत करो उससे।"

"मैं कहता हूँ तुम उसे कुछ खाने को ही मत दिया करो। जहाँ जाता है, जहाँ मजदूरी करता है, वहीं अपने खाने-पीने का भी उपाय करे। लालन-पालन कर दिया उसका इतने दिन। अब और क्या चाहता है वह ?"

पत्नी मुँह फेरकर बरतन मलने चली गई। पति देवता चिलम लेकर चूल्हे से उसमे आँच रखने को भीतर बढ़े। कोयले सब बुझ गए थे। वह रिस मे भरे बाहर आये। पत्नी की ओर देखा। बिना कुछ कहे-सुने पधानजी के घर चिलम लेकर चले गए।

पधानजी धूप में कम्बल बिछा, बैठे बैठे भागवत पढ़ रहे थे, दत्त-चित्त थे। जब उस असामी की आहट पर उनका ध्यान न खिचा तो उसने चिलम भूमि पर रखकर बड़ी नम्रता से कहा—"महाराज, पाय-लागन !"

"आशीर्वाद ! बैठो।" पुस्तक पढते-पढते ही वह बोले।

"कोई खोज-खबर मिली महाराज ?"

पधानजी ने चश्मा उतारकर पुस्तक के बीच में रख उसे बन्द कर दिया—"क्या मिला और क्या गया ? मैं तो सर्वत्र ही भाग्य की प्रधानता मानता आया हूँ।"

असामी को पुत्र का व्याख्यान याद पड़ा और वह सोचने लगा—"भाग्य को मानने पर मनुष्य को कम परिश्रम करना पड़ता है। किताब की रेखाओं में आँखें दौड़ाने में क्या मेहनत पड़ती है, जो हल की रेखाओं में बैलों को दौड़ाने से पड़ती है!"

पधानजी कह रहे थे—"उसका जुड़ जाना जब एक भाग्य की बात है तो उसका खो जाना भी उसी की करतूत नहीं है क्या?"

"लेकिन महाराज, यह बड़ी भयानक बात है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ यहाँ। गहना सन्दूकची के भीतर, सन्दूकची बकस में और बकस मकान के अन्दर। सब पर सांकल, सब पर ताले! कैसे मार लिया चोर ने हाथ?"

"भली चलाई। तुमसे क्या छिपाऊँ? श्रीमती जी कभी कहती हैं सन्दूकची में थी नथ, और कभी कहती हैं सिरहाने! यह भी कोई बात हुई?"

असामी बोला—"घर के भीतर अच्छी तरह ढूँढ लेना था महाराज, मैं तो समझता हूँ कोई नहीं चुरा सकता, ऐसा साहस हो नहीं सकता किसी का।"

"कभी कहती हैं—नथ नहीं, सन्दूक की चाबी थी सिरहाने। मैंने तो कह दिया, होना था सो गया। हल्ला मत करो, बाहर मत फैलाओ बात को।"

"महाराज, मेरा बेटा लछमियाँ, वह तो गाँव में कभी रहता ही नहीं। सूर्योदय हुआ नहीं कि वह चला तिपनियाँ को और कभी-कभी तो आधी-आधी रात बीते घर को लौटता है।" लछमियाँ के पिता बोले।

"नहीं, नहीं, लछमियाँ तो अपने घर का बालक है। ऊधमी है, झगड़ालू है, पर ऐसा काम थोड़े कर सकता है," पधानजी ने कहा।

"हाँ महाराज, पंडित और प्रजापालक हैं आप। यही विचार आपको शोभा देता है। मैंने सुना था पटवारीजी लछमियाँ को पेड़ में उलटा

लटकाकर उसके मुँह के नीचे मिरचों की धूप देना चाहते हैं। महाराज कुछ सबूत भी तो होना चाहिए।" असामी ने अधीर होकर कहा।

"कौन कहता है? नहीं, नहीं, ऐसा न होने पायगा," पधानजी ने उत्तर दिया।

"लछमियाँ नंगा है महाराज, अगर ऐसा कुछ किया गया, तो वह गाँव में कोई-न-कोई उत्पात मचाकर रख देगा। न उसे मेरा डर है, न भगवान् का। वह मरने-मारने को उतर जाता है बातों-ही-बातों मे। आप बड़े आदमी हैं, इज्जत-आबरू रखते हैं। नथ चुराकर कहाँ ले जाता वह? जलेबी तो थी नहीं कि मुँह फिरा निगल ली।"

"नहीं जी, ऐसा कहीं हो सकता है?"

"आप मालिक हैं, साफ-साफ कह दिया मैंने आपसे।"

"लछमियाँ कहीं नौकर है क्या?"

"नौकर क्या है महाराज, ऐसे ही मेहनत-मजदूरी करता है तिपनियाँ में।"

"कोई पैसा देता है तुम्हें?"

"कानी कौडी नहीं।"

"फिर? कभी कपडे-लत्ते, नमक-तेल से मदद् करता है?"

"कभी, मन में गड़ गई तो।"

"हवा ही एक अजीब बह चली है। लड़के अपने माता-पिता के अपने प्रति तो सभो कर्तव्यों को समझते हैं, परन्तु अपनी ओर से लौटाने को माता-पिता के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है।"

"हाँ महाराज, ठीक यही बात है। परन्तु आप तो सौभाग्यशाली हैं। भगवान् ने पुत्र दिये हैं। सभी पढ़े-लिखे और नौकर-चाकर हैं।"

"हाँ, सभी-कुछ है," पधानजी ने बड़ी गहरी साँस लेते हुए कहा।

असामी उनकी मुद्रा देखता ही रह गया। कोई बोल ही न निकल सका उसके मुख से।

पधानजी बोले—"लेकिन जो है सब ठीक ही है। वर्ष कट गए, महीने भी, ये दिन भी बीत ही जायँगे।"

"बड़ी-बड़ी नौकरियों में हैं आपके लड़के महाराज, कुछ भेजते ही होंगे।"

"नहीं, कुछ भी नहीं।"

"कुछ भी नहीं?" चकित होकर असामी ने पूछा।

"नहीं। किसी से क्या छिपाऊँ, जब सत्य ही ऐसा है तो।"

"कारण?"

"कहते हैं, बड़ा शहर—व्ययों की भरमार। बड़ी नौकरी, उसकी प्रतिष्ठा सँभालने के लिए भी व्यय ही चाहिए। पूरा ही नहीं पड़ता किसी प्रकार, यही बार-बार प्रकट करते हैं। दुनिया उजाड़ दी फैशन ने," पधानजी बोले, "पैसा ही नहीं सारा धरम-करम भी भेंट चढ़ गया उसी की।"

"हाँ महाराज, यह लछमियाँ भी इसी फैशन के पीछे दौड़ चला है। मैं समझता था यह अपढ़ मूर्खों का रोग है।"

पाँच

. . . .

लछमियाँ तिपनियाँ जा पहुँचा। चहल-पहल बढने लगी थी। मार्ग के एक ओर पानी का नल था, नीचे एक डिग्गी बनी हुई थी, उसमें पशुओं के पीने के लिए पानी जमा होता रहता था। नल के पार्श्व में एक दो-तला मकान था, उसमें एक हलवाई ने होटल खोल रखा था। निचले तल में उसकी भट्टी थी। वहीं वह ग्राहकों के लिए पूरी फुलाता था और अपनी रोटी सेंकता था। भट्टी के निकट एक गैलरी में उसकी थालें सजी रहती थीं। कुछ में मिठाई, कुछ में पकी साग-भाजी, कुछ में हरी और कुछ में मौसमी फल-फूल। पान और चाय भी रखता था वह।

दूकान के बाहर भूमि पर एक लम्बी बैंच पड़ी रहती थी—उन ग्राहकों के लिए जो खुली वायु में खाना पसन्द करते हों या जिनके दूकान के भीतर प्रवेश पर दुकानदार को कोई आपत्ति थी। वैसे दूकान के भीतर ही भोजन का प्रबन्ध था। एक ओर भूमि पर चौकियाँ और चटाइयाँ भी बिछी थीं और एक ओर एक लम्बी चीड के मेज के चारों ओर चार टीन और सरियों की कुरसियाँ भी थीं।

दो-तले पर होटल था। दो कमरे, दोनों में एक-एक पुरानी दरी बिछी थी। एक-एक बान की चारपाई और एक-एक मेज। एक-दो दिन के लिए रहने वाले यात्रियों के लिए ही वह प्रबन्ध था। हलवाई नीचे दूकान पर ही सोता था। नीचे उसके बगल के दो कमरों में फल-फूलों का गोदाम था।

होटल के सामने सड़क के पार चार दूकानें थीं—एक कुछ सजावट लिये हुए। अलमारियों में चाय-बिस्कुट के बण्डल, विलायती मिठाइयाँ, सुगन्धि-तेल, साबुन, टूथ पेस्ट, सुई-तागा, सिगरेट, दियासलाइयाँ; एक अलमारी मे कुछ चुनी हुई प्रसिद्ध पेटेंट दवाइयाँ—देशी-विदेशी दोनों प्रकार की; एक ओर बाँज और दूसरी लकड़ी की पॉलिश और बिना पॉलिश की हुई लाठियाँ, कुछ स्टेशनरी का सामान और बाहर टोकरियों में सेव के दाने भी। वे तिपनियाँ के जनरल मर्चेंट थे। शाखा-पोस्ट ऑफिस भी था उनकी दूकान मे। कुछ खाद्य-सामग्री की आढ़त का काम भी करते थे बाहर-ही-बाहर। बाहर एक तिखूँटे पर काँटे से उनका तराजू लटकता था।

एक कपड़े की दूकान थी, एक ओर उसमें एक दरजी भी बैठता थाँ और एक ओर पनवारी ने अपना फड़ सजा रखा था। एक आटे-चावल, घी-तेल, मिरच-मसाले की दुकान थी। उसके बरामदे मे एक चूल्हे पर एक केतली और एक अलमारी मे उलटे गिलासों की पलटन सजाए एक चायवाला बैठता था। ये तीनों दूकानें दो-तला थीं। चौथी दूकान एक कच्चा झोंपड़ा था, उसमे एक खोमचे में रायता, खटाई और पकौड़ियाँ सजाकर एक आदमी बैठता था। पान, बीड़ी, सिगरेट और चाय का भी मेल मिला रखा था उसने।

लछमियाँ उस अकेली दूकान के बाहर की बैंच पर बैठ गया। उसने अपने कान में खोंसी हुई अधजली बीड़ी निकाली और हलवाई की भट्टी में उसे सुलगाने लगा।

हलवाई की कढ़ाई भट्टी में उबल रही थी। वह पूरियाँ बेल रहा था। बोला—"आँच मत गड़बड़ाना।"

लछमियाँ धुँआ खींचकर पूछने लगा—"रेगुलर आ गई?"

"कहाँ रेगुलर के फेर में फँसा है रे लछमियाँ! नहीं आ रही है समझ में तेरी बात?" दूकानदार ने कहा।

हँसता हुआ बीड़ी चूसने लगा लछमियाँ। रंग-ढंग देखकर समझ
तो गया वह रेगुलर नही आई अभी।

"क्यो रे ?" दूकानदार ने फिर प्रतिस्मरण दिया।

"क्या है तुम्हारी बात ?"

"मेरे होटल की नौकरी में क्यों नहीं आ जाता ?"

"नौकरी ? अब तो हम स्वतन्त्र हो गए हैं, अब कैसी नौकरी ?"

"स्वतन्त्र हो गया है तू ? झोंपड़ी के पत्थर तेरे सोने के हो गए और छत पर की घास-फूस पर छा गए कल्पवृक्ष के शाखा-पत्र ?"

"स्वतन्त्रता एक मन की मौज है, रुपये के साथ उसका क्या सम्बन्ध ?"

"खाने का तेरा ठिकाना नही, पलटन के सिपाहियों की उतरन तेरे बदन पर, डींग मारता है, तू स्वतन्त्रता की। पढ़ा-लिखा कुछ है नहीं, बातों में घुस जाता है तू बड़े बड़ों को। दिन-भर मोटर से उतरने वाले यात्रियों के ट्रंक-बिस्तरों पर ताक लगाए बैठा रहता है। यही है तेरी स्वतन्त्रता ?" होटलवाला बोला।

"बिना परिश्रम कोई रोटो नही खाने पायगा। इसी से परिश्रम करता हूँ। अपने मन से करता हूँ, किसी की धौंस नहीं। मौज आई किया काम, नहीं तो दीवार पर बैठकर देखता रहा जगत का चलता-फिरता तमाशा।"

"यहाँ होटल मे किसकी धौंस है ? पानी निकट है। ग्राहकों को परोसना-पूछना, बरतनों और होटल की मँजाई-सफाई बस। फिर दिन-भर थोड़े ग्राहकों का ताँता बँधा रहता है ? गाड़ी के समय ही पर तो।"

"खाली बखत में क्या होगा ?"

"खाली बखत में बैंच पर बैठकर बीडी पीते रहना और कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को दूकान में मुँह मारने से बचाते रहना।"

"हो गया फिर खाली बखत। कभी पैसे देने वाले ग्राहकों की सेवा तो फिर कभी पैसे न देने वाले ग्राहकों की देख-रेख। फिर न-जाने कब

तुम कहाँ भेज दो। गुलामी की जंजीर तो पड़ी ठहरी मेरे गले में प्रातः-काल से सन्ध्या तक।"

"मौज से हलवा-पूरी उड़ायगा यहाँ; पान खायगा, चाय पिएगा और सिगरेट फूँकेगा फोकट ही में। महीने-के-महीने तनखाह अलग जमा करेगा। रहना चाहेगा तो ऊपर के बरामदे में सोने को भी जगह दे दूँगा।"

"क्यों नहीं, दिन-भर आपके ग्राहकों की चाकरी और रात-भर आपके माल की चौकीदारी। चौबीसों घंटे और तीसों दिन अपने को नहीं बेच सकता मैं आपके हाथ। एक-एक घंटा मेरा है, घंटे के साठों मिनटों का राजा मैं हूँ—स्वतन्त्र हूँ।"

"सोच ले लछमियाँ, ऐसी चुपड़ी और न मिलने की कहीं। बोझ के बिना अगर तेरे सिर की खुजली नहीं मिटती, तो तू मोटर में से यात्रियों को पटाकर मय सामान के ले आया कर यहाँ। उनसे भी मजूरी लेते रहना और मुझसे भी तनखाह; दो री आमदनी!"

"नहीं गुरु! यह सब लालच मत दिखाओ मुझे। लछमियाँ इन जालों में फँसने का नहीं। वह बढ़ चला है, कहाँ उसे इस जूठे और झाड़ू में घेर देना चाहते हो। एक बीडी तो पिलाओ।" कहकर लछमियाँ ने होटल वाले की दूकान में रखे एक बण्डल में से एक बीडी खींच ली और उसे सुलगाने लगा।

"पछतायगा रे लछमियाँ।"

"मधुवा तो नहीं आया यहाँ?"

"मधुवे की संगत में मत जा। वह दस नम्बरिया है।"

"आपके यहाँ नौकरी कर चुका है वह।"

"चोट्टा है बड़ा। कई बरतन चुरा ले गया वह होटल के। चीनी की बोरी आधी साफ कर दी।"

"वह तो दो महीने की तनखाह बाकी बताता है आपके ऊपर।"

"जूते मारूँ उसकी खोपडी में दस, मेरे सामने अगर ऐसा मुख उसने खोला तो।"

मोटर की घरघराहट सुन पडी। साथ ही उसके भौंपू ने भी लछ्मियाँ के कान खोल दिए।

"आ गई,"—कहता हुआ वह दौड पडा उस ओर।

मोटर रुकी। उसमें से कुछ यात्री उतर पडे। पर सामान किसी का भी नहीं उतरा। लछमियाँ निराश होकर सोचने लगा था, किधर जाऊँ। मधुवा मिल गया उसे।

मधुवा भी निकट के किसी किसान का लडका है। लछमियाँ ने उसे अपने रंग में रंग लिया है। उसने खूब अच्छी तरह 'बढ़ चलो' का मन्त्र उसके कानों मे फूँक दिया है। उसने खेती से उसके मन में उच्चाटन पैदा कर दिया है और चाकरी से भी। भूमिया के मन्दिर की उस लावारिस धर्मशाला को हथियाने के लिए उनकी मन्त्रणा चल रही थी बहुत दिनो से।

"मधुवा, भाई बोझा ढोने से अधिक दिन काम नहीं चल सकता। धर्मशाला में गाँजे का दम लगा ताश खेलने से भी नहीं।"

"फिर ?"

"किया कुछ तुमने ? जब तक वह पूरी-की-पूरी हमारे अधिकार में नहीं आ जाती तब तक हम वहाँ कोई काम आरम्भ कर ही नहीं सकते हैं।"

"वह कोढ़ी और वह साधू वहाँ पहाड़ को भाँति जम गए हैं। कहते हैं, यह तो धर्मशाला है, किसी एक की भूमि नहीं, हम नहीं जायँगे।"

"तुमने कहा नहीं कि हमने गाँववालो से पूछ लिया है।"

"कहा तो सही, पर वे दोनों दूसरे कान से उडा गए।"

"अच्छा मैं ही करूँगा उनका इलाज।"

"धर्मशाला के बाहर छप्पर खड़ा करके ही तो रहते हैं; रहने भी दो न उन्हें !"

"दोनों बदमाश हैं। कैसे रहने दो जी ? कोढ़ी महा भयानक रोग के कीड़े फैलाता है और साधू वह भी तो बिना परिश्रम किये समाज का एक भार है। हट्टा-कट्टा, क्या अधिकार है उसे जो मुफ्त में बैठा-बैठा खा जाय ? वह हमारे समाज का कोढ़ है।"

"धर्म के नाम पर, भूमिया के मन्दिर का उद्धार करने के लिये ही तो आपने गाँववालों को फुसलाया है और तब आपको धर्म के नाम पर साधू और दया के नाम पर उस कोढ़ी को वहाँ रहने देना ही होगा।"

"कैसी दया ? कैसा धरम ? क्या हम चंदा इकट्ठा कर उस मन्दिर का उद्धार करेंगे ? कभी नहीं, हम तो वहाँ आलू कंपनी खोलेंगे।"

"आलू-कंपनी कैसी ? आलू तो बहुत भारी होता है। कहाँ ढोवेंगे ?"

"एकदम रेल के स्टेशन से मिला देंगे।"

मधुवा सिर खुजाने लगा—"पैदल ?"

"पैदल नहीं, पहिया।"

मधुवा नहीं समझा—"कैसा पहिया ?"

"पहिया,—चक्का ! जिसने मनुष्य का बोझ अपने ऊपर लादकर उसके मनसूबों में वेग बढ़ा दिया उसका; समय कई गुना कम कर उसका भंडार भर दिया।"

"तुम तो कहते थे कंपनी में खूब मौज होगी, हलवा-पूरी उड़ेगी, हारमोनियम-तबला बजेगा ?"

"हारमोनियम ? क्या भाई क्या नाम लिया तुमने ? वह बड़ी मनहूस चीज है। तुम मिडिल तक व्यर्थ ही पढ़े हो, विचार बढ़े नहीं हैं तुम्हारे, सांस्कृतिक उत्थान कुछ भी नहीं हुआ तुम्हारा। मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, पर बातें सातों समुद्र और सातों आकाश की जानता हूँ; पंडितजी सब बताया करते थे; यद्यपि उनका स्कूल मुझे तो नहीं बढ़ा सका, परन्तु बातें अवश्य बढ़ा दीं मेरी। सुनो, वह कहते थे, हमारा सारा गाना हारमोनियम ने चौपट कर दिया।"

"कैसे ?"

"हारमोनियम के एक परदे में एक ही स्वर निकलता है और सितार के एक ही तार मे न जाने कितने, गिन ही नहीं सकता कोई ।"

"एक तार में कई सुर ! यह तो झूठी बात हुई; एक परदे में एक ही सुर; जाडा हो चाहे गरमी । यह हुई बात, एक ही बात, जो कह दी सो कह दी !"

"लेकिन परदा जो है वहाँ । कौन जानता है उस संदूक के भीतर क्या है ? परदे तो सितार मे भी हैं: लेकिन सब जाहिर, सामने ।"

"तुमने तो एक दिन कहा था पंडितजी स्कूल मे हारमोनियम बजाते थे ।"

"विवशता थी क्या करते बेचारे, हारमोनियम मे आग सुलगी-सुलगाई मिल जाती थी लेकिन, सितार मे फूंक-फूँककर सुलगानी पड़ती थी ।"

"धौंकनी जो रहती है उसमे," मधुवा बोला ।

"बात कहाँ-से-कहाँ उडा दी तुमने ?"

"तुम्हीं ने तो पहिए का चक्कर डाल दिया ।"

"हाँ कम्पिटीशन करेंगे । सिर पर ढोना मूर्खता है । पहिए पर हाथ रखेंगे तो सारा बोझ उतर जायगा । तुम्हारे पिता मूर्ख थे, जो उन्होंने मोटर को देखकर बैलगाडी तोड़-ताड़कर रख दी । मैं कहता हूँ ले आओ उसे, भूमिया के मंदिर में जोड़-जाड़ लेंगे ।"

"बैल तो बेच दिए ।"

"हल के तो होंगे ?"

"गाडी को पहचानते नही ।"

"साध लिये जायँगे । जब हल चलेगा, तब चलेगा । खाली वखत गाड़ी चलेगी । वह हल में पहिया नहीं जोड सके, वह गाड़ी से ही जुड सकता है ।"

"गाड़ी से कैसे ?"

"गाड़ी से ऐसे, सुनो। किसान खाद्य उपजाता है। खानेवाला जो पैसे देता है, वह हमे पूरे नहीं मिलते। बीच का आदमी सब खा जाता है। खेत से सीधे खाने वाले के मुख तक का जोड़ चाहिए हमे। हल से पैदा किया गाड़ी से पहुँचा दिया। पहाड़ की चीजें देस; देस की पहाड़। आते-जाते दोनों समय पूरा भाड़ा।"

"मोटर का सामना कैसे कर सकोगे?"

"उन्हे पैट्रोल भी तो चाहिए। फिर भी बहुत बच जायगा, बीच के आदमी का हाथ जो रह जायगा। खाद्य उपजाकर किसान पनपा नहीं और उसका व्यापार कर ये पूँजीपति इतने मोटे हो गए। तुम्हारा गाँव निकट ही है। जाकर समझाओ अपने पिता को कि संसार किधर जा रहा है। असली स्थिति किसान की है—उत्पादक की है। उसी को रौंदकर इन पूँजीपतियों ने अपने महल ऊँचे किये है।"

"बात तो ठीक है यह।"

"तो चलो गाड़ी उठा लाएं यहाँ, एक-एक पहिया कर। और सुनो, गाड़ी यहाँ ले आयँगे तो कोढ़ी और बाबा दोनों को यहाँ से निकल जाना पड़ेगा। कहेंगे हटो, यहाँ गाड़ी रखी जायगी।"

"उन्होंने धर्मशाला कहा तो?"

"कैसी धर्मशाला? कैसा भूमिया का मंदिर? टूट-फूट कैसे सम्भाली जायगी? उसके साथ कोई खेत या तराजू भी तो होना चाहिए। तुम कहते हो तुम्हारे दादा ने यह धर्मशाला और यह मंदिर बनाया था। यदि इसकी आर्थिक सहायता का कोई प्रबन्ध होता तो आज इसकी ऐसी दशा न होती। भूमिया का मंदिर! बैलों ने गरदन घिस-घिसकर उसका अंजर-पंजर ढीला कर दिया है। धर्मशाला का एक सिरा दबा रखा है इस कोढ़ी ने, जो यहाँ से मोटर स्टेशन तक के पथ में नित्य अपने रोग के कीड़े बिछाता जाता है। क्यों नहीं उसे कोढ़ी खाने में चला जाना चाहिए? दूसरे स्वस्थ लोगों के बीच में अपना रोग फैला देने का उसे कोई अधिकार नहीं है।"

"और दूसरे कोने में जमे हुए हैं वह गुरु घण्टाल, उसे माँगने के लिए मोटर स्टेशन भी नहीं जाना पडता। चाय-गाँजा, दूध-चीनी, आटा-चावल, नमक-मसाला उनके चरणों में अपने-आप पहुँच जाता है।"

"संडा-मुस्टण्डा, क्यो उसे समाज बैठे-बैठे ही खिलाता है? क्या भलाई करता है वह हमारी? बाल बढ़ा लिये उसने, नंगे बदन मे राख मल ली तो इससे क्या हो गया हमारा? चारो ओर इतनी भूमि है, सब बंजर पड़ी है। बाड़-घेर ठीक करता, जानवरों से रचा होती। पानी निकट ही है। भूमि खोदकर कुछ बोता—फूल ही उगाता, मन्दिर की शोभा बढती। चारों ओर गन्दा करके रख दिया है और वह कोढ़ी, उससे तो एक खेत नीचे भी नहीं उतरा जाता। चलो, आज ही घसीट लायें यहाँ गाड़ी।"

"आज ही?"—मधुवा कुछ गम्भीरता से बोला।

"क्यों, आज ही क्यो नहीं? गाड़ी बाहर पडी-पडी सड रही है। सडक में फिर चला देंगे, उसके भाग जाग जायंगे और क्यों नहीं हमारे भी?"

"आज पिताजी से पूछ लूँगा।"

दूसरे दिन लछमियाँ नियुक्ति के अनुसार सीधा मधुवा के गाँव पहुँचा। गाड़ी बहुत-कुछ टूट-फूट गई थी, परन्तु उसका ढाँचा दृढ़ था, पहिए साबुत और जीर्णोद्धार सहज-सम्भव था। बैलों की जगह जुए को पकडकर दोनों उसे खींचकर नहीं ले जा सकते थे। टुकड़े-टुकडे करके ले चले। मन्दिर निकट ही था और मार्ग प्रायः समतल ही।

दोनों पहिए निकाल लिये गए। एक लुढ़काता हुआ ले चला लछमियाँ और दूसरा मधुवा। दोनों मन्दिर में पहुँच गए।

लछमियाँ बोला—"बारी-बारी से, एक-एक कर। तुम अपना पहिया यहीं पर रख दो। पहले कोढ़ी को खिसकाया जायगा।"

"नहीं, पहले इस पाखण्डी को।" मधुवा ने प्रतिवाद किया।

"जिसे भी कहो, एक ही बात है। एक से हमें तन का भय है, तो

दूसरे से मन का। एक ढीला पड जायगा तो दूसरे की जड़ हिलनी भी सम्भव हो जायगी। कोढ़ी शायद सरलता से हमारी बात मान लेगा।"

"लेकिन।"

"तुम्हारी दया जाग उठी! हम उसे कोढ़ीखाने तक का रास्ता बता देंगे। वहाँ बैठे-बैठे खायगा भी और इलाज भी होता रहेगा। बुरा क्या है?"

"कर लेंगे वे इसे भरती, बिना सिफारिश के?"

"इतनी बडी सिफारिश तो फूट पडी है बिचारे के और क्या चाहिए।" कहकर लछमियाँ पहिया लुढ़काते हुए कोढी के निकट को चला।

धर्मशाला की एक दीवार के सहारे कुछ लीसे के टीन, लकड़ी और घास-फूस ठहराकर कोढी ने अपना एक आश्रय बना रखा था।

"हटो भाई।" लछमियाँ ने पहिया पकड़कर उससे कहा।

कोढ़ी उसे ताकता ही रह गया!

"यह सब टीन-बोरा समेटकर ले जाओ।"

"कहाँ ले जाऊँ?"

"हम क्या जानें, जनता के स्वास्थ्य के लिए खतरा है तुमसे।"

"दया करो भाई। यह तो धर्मशाला है।"

"धर्मशाला हो गई खतम। अब तो यह कर्मशाला है, जो काम करेगा वही रहने पायगा यहाँ।"

"क्या काम करूँ, कैसे करूँ? फिर धर्मशाला में कहाँ रहता हूँ? उसके बाहर पडा हूँ, पड़ा रहने दो भाई। वह साधू बाबा भी तो रहते हैं यहाँ। उनके हाथ-पैर साबुत हैं, वही जब कुछ काम नहीं कर सकते तो मैं क्या करूँ?"

"जिनकी धर्मशाला है, उनके लडके आये हैं यह। यहाँ कुछ कार-बार खोलेंगे। अपने गाँव को चले जाओ।"

"गाँव वाले नहीं आने देते।"

"धर्मशाला ने क्या तुम्हारा ठेका ले रखा है? जब घर वालों और गाँव वालों ने ही तुम्हे निकाल दिया, तो पराई भूमि पर कहाँ से तुम्हारे लिए जगह हो जायगी?"

मधुवा कहने लगा—"कोढ़ीखाने में क्यों नही चले जाते?"

"कैसे जाऊँ?"

"रास्ता हम बता देंगे। माँगते-खाते चले जाना।" मधुवा बोला।

"मोटर-स्टेशन तक तो दो-दो चक्कर लगाते हो।" लछमियाँ ने कहा—"हटो, पहिए के लिए जगह करो यह कम्पनी का पहिया है।"

"कम्पनी का कैसा पहियाँ? यह पहिया तो गाडी का है।"—कोढ़ी बोला।

"पहिया गाड़ी का है तो क्या हुआ? गाड़ी तो कम्पनी की है।"

"कम्पनी क्या हुई?"

"कम्पनी नहीं जानते? सब कम्पनियों की दादी—ईस्ट इण्डिया कम्पनी जब भारत-सरकार मे बदल गई तो कम्पनियाँ-ही-कम्पनियाँ हो गईं—चाय-कम्पनी, बिस्कुट-कम्पनी, तेल-कम्पनी, साबुन-कम्पनी, चादर-कम्पनी, कम्बल-कम्पनी. लोटा-कम्पनी, थाली-कम्पनी, नाई-कम्पनी, धोबी-कम्पनी, आलू-कम्पनी, टमाटर-कम्पनी, चीनी-कम्पनी, गुड-कम्पनी, सब कम्पनी-ही-कम्पनी, इतनी कम्पनियाँ खप गईं। लछमियाँ की कम्पनी को देखा तो कहते हो, पूछते हो कम्पनी क्या हुई। खिसको, पहिए के लिए जगह करो।" लछमियाँ ने उत्तर दिया।

"कहाँ जाऊँ? तीन साल से यहाँ रहता हूँ?"

"जहाँ जनम काटा, वहाँ से खिसक गए। बीमारी फैलाकर क्या यह गाँव उजाड दोगे? सीधे-से नहीं मानोगे तो पुलिस को बुलाना पड़ेगा।"

"हाथ पकड़कर रख आओ, जहाँ तुम्हारा जी चाहता है।"

"हाथ पकड़कर? हाथ पकड़कर क्यों? जब तिपनियाँ मे सिक्के बटोरने जाओगे तो इन बीमारी के चीथड़ों मे दियासलाई दे दी

जायगी।" कहकर लछमियाँ ने दीवार के सहारे पहिया रख दिया—"खबरदार, इस पहिए को मत छूना। चीथड़े-बर्तन कुछ इसमें रखोगे तो ठीक न होगा। कैसी मक्खियाँ भिनभिना रही हैं! यह आकर हमारे नाक-मुख में बैठेंगी तो हमें तुम्हारा रोग लग जायगा या नहीं? तुम्हे तो समाज से दया चाहने के बदले उस पर दया करनी चाहिए।"

कोढ़ी आकुलता से लछमियाँ को देख रहा था।

"हाँ, हाँ, झूठ थोड़े ही कह रहा हूँ। हम लोगों पर दया करो भाई। हमारी दया क्या है? कुछ नहीं। हमारी दया से तुम्हारा रोग जा सकता तो वह दया थी। उससे तुम्हारे रोग मे आहुति बढ़ती है और कुछ नहीं। तब सच पूछो तो वह कठोरता है। सन्ध्या तक यह सब हटा ले जाओ। अभी गाड़ी लानी है, हमें गाँव से। गाडी रखेंगे यहाँ, बैल बाँधने को स्थान चाहिए।"

"कुछ दिन तो रहने दो।"

"नही, एक दिन भी नहीं।"

"भाग्य का मारा हुआ हूँ।" कोढ़ी रोते हुए बोला।

वह श्रम के गीत गाने वाला लछमियाँ पहली बार भाग्य के साक्षात्कार में आया—"झूठी' बात! भाग्य कोई वस्तु नहीं। अपना पाप समाज के सिर पर लाद देने का एक बहाना। हम क्या करें? लाचार हैं। नीचे के खेत में उस टीले और पेड़ के सहारे बना लो अपनी झोंपड़ी, लेकिन आठ दिन से अधिक के लिए नहीं।"—कहकर लछमियाँ मधुवा का हाथ पकड़कर आगे बढ़ा। विजय के हर्ष से वह उछलता जा रहा था। उसने दूसरा पहिया उठा लिया।

मधुवा बोला—"अब साधु महाराज की बारी आई है क्या?"

दोनों पहिए लुढ़काते हुए धर्मशाला के दूसरे सिरे पर चले। बरामदे में साधु ने अपना आसन जमा रखा था। चारों ओर पत्थर जमाकर उसकी धूनी जलती थी। तीन तरफ पटले पड़े हुए थे भक्तों के बैठने के लिए, सामने वह बैठता था कम्बल बिछाकर। बरामदे के बाहरी

कोने के दोनों ओर उसने टाट लटकाकर परदा कर रखा था।

भूमि पर चारों ओर सजाकर उसके व्यवहार की वस्तुएं पड़ी हुई थीं। बाईं ओर टाट के कोने में बर्तन रखे हुए थे। दाहिनी ओर कोने में धर्मशाला की दीवार के सहारे, एक पटले पर कुछ पुस्तकें, एक छोटी-सी थाली मे फूलों से ढकी हुई किसी देवता की मूर्ति और कुछ पूजा का सामान रखा हुआ था। ऊपर उसकी दो झोलियाँ लटक रही थीं। एक छींके पर एक कटोरे से ढका लोटा भी। बाहर के कोने मे खम्भे पर ठुकी कील से गरदन-बँधी लटक रही थी उसकी कड़ुए तेल की बोतल। उसके सिरहाने दोनो ओर कुछ और पोटलियाँ रखी थीं; भीतरी कोने में एक एकतारा और एक जोडा करताल का भी।

धूनी के निकट बीचो-बीच उसने एक लोहे का त्रिशूल गाड़ रखा था। धूनी के एक ओर चिमटा, चिलम, एक कागज की पुड़िया मे तमाखू था; दूसरी ओर उलटी करके रखी हुई धुएँ से काली पतीली और एक के भीतर दूसरा करके रखे गए चार पौवे गिलास।

बाबाजी अकेले ही आसन पर विराजमान थे। वे पतली चिलम हाथ मे लेकर लम्बा धुआँ छोड़ रहे थे। सारे अंग मे विभूत पुती हुई, केवल एक लँगोटी पहने।

लछमियाँ ने पहिया रोककर मधुवा से कहा—"तुम कुछ न बोलना।" मैं ही स्वयं बातें करूँगा वह पहिया लुढकाते हुए आगे बढ़ गया। उसने चुपचाप बाहर बरामदे के सहारे पहिया रोक दिया। वह कुछ न बोला। उसने राख मे घिरी अँगारो-सी बाबा की चढ़ी आँखो को घूरा।

बाबा ने धुँआँ छोडकर कहा—"बम शंकर!"

लछमियाँ की गम्भीरता न टूटी बाबा के इस घोष से।

बाबा ने और भी उच्च स्वर से कहा—"जय शंकर!"

वैसे ही स्वर में लछमियाँ ने पुकारा—"जय भारत!"

बाबा लछमियाँ की ओर चिलम-साफी बढ़ाकर हँसने लगे।

"हँसने की बात क्या है इसमे ? पुराने शंकरजी को रहने दो उनके

ही कैलास में, अब तो नये भारत की जय है।"

"शंकरजी न पुराने हैं, न भारत ही दूसरा है।"

"भारत 'माता' है।"

"शिव क्या शक्ति से भिन्न है ? आओ भगत बैठो। दम लगाओ, तभी तो काई छँटकर कुछ साफ विचार सूझ पडेगा।"

"नहीं, हमने गाँजा पीना छोड दिया !"

"गाँजा इसमें कहाँ रखा है ? पुड़िया झाडकर जो कुछ होगा, उसे सोख चुका। तमाखू है बढ़िया लखनऊ का। एक सिपाही छुट्टी मे वहाँ से आया था। दो-चार चिलम यहाँ आप लोगो के लिए रख गया। लो पियो और बताओ कैसा है।" बाबाजी ने चिलम कुछ और आगे बढ़ाकर कहा।

लछमियाँ कुछ आगे बढ़कर बोला—"बाबाजी, साफ बात है। पहले भी आपसे कह चुके हैं, और आज भी। आपको यहाँ से जाना ही पड़ेगा।"

"हर मिनट में बाबा जा ही रहा है भगत। वह जमा हुआ कहाँ पर है ? यह जो झोली-पोटली देखते हो यह सब आप ही लोगो की है। मैं तो एक चौकीदार हूँ।" कहकर बाबा फिर हँसने लगा।

"नहीं बाबाजी !"

बाबा उग्र होकर बोले—"अरे तो चल दूँगा फिर। अभी कहता है तो अभी। उस पेड़ के नीचे बैठ जाऊँगा। ले, चिलम पीता है तो पी ले, ठंडी हुई जाती है।"

लछमियाँ चिलम लेकर एक पटले पर बैठ गया और दम लगाकर बोला—"गाँजा तो है ?"

"आज ही थोड़े पी रहा है।" कहते हुए बाबा की दृष्टि मधुवा पर पड़ी—"आओ जी, चुपचाप कैसे खड़े हो वहाँ पर ? माधो, आओ इधर ऊधो को भेज दिया लडाई का मोल-तोल करने। आओ, लो तमाखू पियो।"

लछमियाँ ने उसकी ओर चिलम दिखाते हुए सिर से संकेत करते हुए कहा—"आओ।"

माधव भी बढ गया बाबा के चक्र में पहिए को पीछे छोडकर।

"जय शंकर!" बाबा ने लछमियाँ के फिर दम लगाने पर कहा। चिलम के ऊपर लपट उठ गई थी।

मधुवा पटले पर बैठता हुआ बोला—"जय भारत!"

"तुम भी माधो, नए-पुराने के फेर में पड गए, परन्तु शिव—नया भी नहीं है और पुराना भी नहीं।"

"फिर क्या है बाबा?" लछमियाँ ने चिलम मधुवा को देकर पूछा। उसकी आँखो मे नशा छा चला था और उसका विचार फैलने लगा था।

"शिव? क्या है? नया भी नहीं पुराना नहीं, वह सदा शिव है। आदि और अन्त के सिरे वाले नए और पुराने पडते हैं। शिव एक चक्र है। कहाँ से आरम्भ हुआ, कहाँ समाप्त हो पायगा, कोई नहीं बता सकता। आई कुछ समझ में?"

कुछ समझ मे आई अवश्य लछमियाँ के, वह माथा हिलाने लगा। पर मन में सोच रहा था—"बाबा ने जाल डाल दिया।"

बाबा साधारण पढ़ा-लिखा था, परन्तु घूमा हुआ बहुत था। बुद्धि और समझ का बडा तीव्र था। आयु पचास के लगभग थी। बात करने मे बडा चतुर था। किसान और बाबू दोनों को बातों से मोह लेता था। बडे सरल शब्दों को लेकर वह आत्मा और परमात्मा का तर्क करता था। श्रोता ऊब नहीं उठता था और देर तक उसकी व्याख्या में रस लेता रहता था।

"भारत से जो उसका डोरा काटने लगे हो, क्या बिगाडा है शिव ने तुम्हारा?"

"वह कुछ काम नहीं करते?"

मधुवा ने चिलम बाबा को दे दी। दम लगाकर बाबा ने कहा—"कुछ काम नहीं करते? झूठी बात। सारी सृष्टि जो चला रहे हैं?"

"सृष्टि स्वयं चल रही है।"

"चाबी तो वही देते हैं। देखो, सुनो और समझो भगत। कच्ची ज़बान नहीं खोली जाती भगवान् के लिए। क्या काम कराना चाहते हो तुम शिव से, तुम्हारे नगरों में जाकर व्यापार करें या गाँवों में जाकर खेती करें। अरे वह कुछ नही करेंगे, इसीलिए तो उन्होंने हिम पर अपना आसन बिछाया है। लो और पियो।"—कहकर बाबा ने फिर लछमियाँ को चिलम दे दी।

"आपने देखा है शिव को?" लछमियाँ ने पूछा।

"नई सभ्यता जब पुराने नगरो के ध्वंस धरती के भीतर से खोद-कर निकालती है, तो शिव नहीं दिखाई देता क्या? जातियो के युद्ध मे जब रक्त-प्रलय जागता है, भूचाल में जब धरती बड़े-बड़े नगरों को निगल जाती है; बाढ़, महामारी और अकाल में जब हजारो गाँव और अगणित पशु-पक्षियों की समाप्ति हो जाती है, तब क्या तुम्हें उसका संहार-ताण्डव नहीं दिखाई देता?"

"ऐसा भयानक देवता? उपासना के लिए!"

"यहाँ भी फिर उसी का चक्र है।"

कैसा चक्र है?" लछमियाँ ने चिलम मधुवा को दे दी।

"संहार पर सृष्टि, सृष्टि पर संहार। रात की खोपडी पर दिन और दिन के सिरहाने रात। यही है चक्कर! आया कुछ समझ में?"

"आया महाराज, क्यों नहीं आया?"

मधुवा ने चिलम बाबा की ओर बढ़ाई।

बाबा बोले—"रख दो भगत, बस हो गया। चिलम उलट दो। साफी इसी के ऊपर रख दो।" लछमियाँ की ओर हाथ उठा कर कहने लगे—"हाँ-में-हाँ मिलाने वाला और झूठा तर्क करने वाला दोनों अधूरे होते हैं। पूरे बनो, भगत पूरे।"

"पूरा ही बनने की इच्छा है तभी तो यह चक्र लाया हूँ मैं भी।" लछमियाँ ने पहिए की ओर दृष्टि की।

उसे उपेक्षित रखकर बाबा ने मधुवा से कहा—"माधो, एक भगत आप लोगों की चाय के लिए चीनी और दूध रख गया है। वह पतीली उठाओ तो उबलने को चाय रख दूँ।"

माधव ने काली पतीली बाबा को दी। जल से भरकर उन्होंने उसे धूनी पर जलती हुई लकड़ियों पर रख दिया।

"हम तो अभी चाय पीकर आये हैं।" लछमियाँ ने यों ही कह दिया। बाबा की उपेक्षा से वह क्षुब्ध हो उठा था।

"फिर पी लेना।"

"हमारे चक्कर पर ध्यान नहीं दिया आपने?" लछमियाँ ने फिर अपनी बात चमकाई।

"यह सब भ्रम है भगत, माया का चक्कर, मनसूबों का फेर!" बाबा बोले।

"तो चेला बना लो हमें भी। मौज करें हम भी।"

"मैं चेले नहीं बनाता।"

"भेंट में हिस्से हो जाने के भय से? क्यों, आप भगत ही बनाते हैं?"

"मेरी क्या भक्ति? भक्ति है भगवान् की।"

"वह तो केवल एक नाम है—निराकार, निर्विकार, बैठे-बैठे माल तो आप ही उड़ाते हैं।"

"मैं बैठा रहता हूँ क्या?"

"और क्या, तीन शब्द हैं आपके पास जीव, माया और ब्रह्म। जीव और ब्रह्म के बीच में माया का परदा डालकर आप मौज करते हैं। क्या काम करते हैं आप?"

"मैं सारे संसार का भला सोचता हूँ बैठे-बैठे। जीव-मात्र की मैत्री साधता हूँ।"

"सोचना भी कोई बात हुई? खाने-पीने की बात क्यों नहीं सोच लेते आप? हमारा स्वागत क्यों करते हैं आप, खाने की आशा ही में तो खिलाते हैं? उस कोढ़ी को बुला लाऊँ, आप उसे अपने पास

बिठा लेंगे ! धूनी में से उसे अपनी चिलम में कोयले भरने देंगे ?"

"भरने नहीं दूँगा तो क्या हुआ ? उसे निराश नहीं करूँगा। स्वयं निकालकर दे दूँगा।"

"देख लिया फिर आपका विश्व-प्रेम ! माया को झूठी समझकर आप स्वयं धोखे में फँसे हैं। सुनिए, भगवान् ने हमें आगे बढ़ने के लिए जगत में भेजा है। माया हमारे आगे बढ़ने का आकर्षण है और यह पहिया हमारी चाल तेज करता है।"

"क्या चाल तेज करता है ? तुम्हारा लालच बढ़ाता है।"

"परिश्रम करके धन कमाना लालच नहीं है। लालच तो उसका बढता है, जो बैठे-ही-बैठे दुनिया को खा जाना चाहता है।"

बाबा ने हँसकर कहा—"हम खा जाना चाहते हैं तुम्हारी दुनिया को। क्यो भगत ?"

लछमियाँ ने मधुवा की कोहनी झटककर कहा—"क्यो रे मधुवा ! बोलता क्यों नहीं ? गुम-सुम होकर बैठ गया ?"

माथा पकड़कर मधुवा बोला—"माथा घूम रहा है। जोर का दम लगा दिया।"

"उसका ध्यान छोड़कर बाहरी बातो में लग जा। ठीक हो जायगा।"—लछमियाँ हँसकर बोला।

"हाँ ?"—झूमते हुए मधुवा बोला—"क्या कह रहे हैं बाबाजी ?"

"कहते हैं मैं यहाँ से नहीं हटूँगा।"

"हटेंगे कैसे नहीं ? एक-एक पत्थर अपने सिर पर ढोकर मेरे दादा ने यह धर्मशाला बनाई है।" मधुवा बोला।

"धर्मशाला क्यों रख दिया फिर इसका नाम ?" बाबाजी ने चाय का बंडल निकाला। पानी खौलने लगा था। बाबाजी ने पत्ती छोड़, पतीली आँच पर से बाहर निकालकर ढक दी और बोले—"मुझे कहाँ चला जाने को कह रहे हो तुम ?"

"असल बात यह है महाराज, हम यहाँ एक कम्पनी खोल रहे हैं।"

"कम्पनी कैसी ?"

"एक से दो हो गए तो बस कम्पनी ।"

"तीन-चार भी तो हो सकते हैं ?"

"हो क्यों नहीं सकते ?"

"तो तीसरा मैं हुआ ।" बाबा बोले ।

"आप नहीं हो सकते । आप एक जगह से टस-से-मस नहीं होना चाहते, और हम रात-दिन चक्कर में रहना चाहते हैं । नहीं देख रहे हो वह पहिया ।"

"एक से क्या होगा ?"

"दूसरा भी है । गाड़ी भी है । गाड़ी में ये दोनो जोड दिए जायंगे ।"

"बस तो मैं भी शामिल हो गया !"—बाबा ने पतीली का ढकना खोलकर देखा और फिर बन्द कर दिया ।

"आप कैसे शामिल हो गए ?"

"दो पहिए—ऊधो और माधो, दोनों चलते-फिरते, तीसरी गाडी—गडी हुई एक जगह पर जमी हुई मैं । और फिर दो बैल भी तो चाहिएं ?"

"हाँ बैल भी आ जायंगे । उन्हीं के बाँधने को जगह चाहिए इस बरामदे मे ।"

बाबा चाय बनाते हुए बोले—"जब आयंगे तब आ जायंगे । तब यह जगह मैं खाली कर दूँगा । लो चाय तो पी लो पहले ।" बाबा ने तीन गिलासों मे चाय भरकर दो गिलास उन दोनो को दे दिए । कुछ चाय पतीली मे बच गई थी । बाबा ने ढककर रख दी ।

तीनों चाय पीने लगे ।

बाबा ने चाय पीते-पीते पूछा—"गाड़ी से क्या करोगे ?"

"माल ढोयंगे ।"

"मोटरें जो हैं ।" बाबा ने कहा ।

"हैं तो क्या हुआ! सभी गाड़ियों को सड़क पर चलने का अधिकार है। मोटरों की घड़घड़ाहट और भोंपू की पौं-पौं सुनकर सब डर गए! बैल बेच दिए और गाड़ियाँ मिट्टी में मिला दीं। यह भी कोई बात हुई?"

"बलवान से सभी डरते हैं। बैलगाड़ी अगर मोटर से भिड़ जाय, तो किसकी हानि होगी—साधारण मनुष्य भी इस बात को जानता है।" बाबा ने कहा।

"भिड़ कैसे जायगी? अपनी-अपनी जगह पर सब बराबर हैं। क्या दुनिया दुर्बल की नहीं है? क्या गरीब नहीं चलने पायगा सड़क पर?"

"कुचल जायगा!" बाबा ने कहा।

"कुचल कैसे जायगा? जगत् दुर्बल का होने जा रहा है। बाबाजी, आपको क्या ज्ञात है। ये मजदूरों का परिश्रम हड़पकर पूँजीपति बने बैठे हैं। इनकी पोल खुल गई। ये अत्याचार के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। इनकी अट्टालिकाएँ चोरबाजारी के विजय-स्तम्भ हैं।"

"क्या बक रहा है रे लछमियाँ! वे भाग्य-लक्ष्मी के सुपात्र हैं। वे दीन-दुखियों के रक्षक हैं।"

"वे भक्षक हैं, शोषक हैं। ये भाग्य-लक्ष्मी के सुपात्र हैं और दिन-भर परिश्रम करने वाला अभागा! नहीं, भाग्य नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी भारतवर्ष मे। सारी धरती बराबर कर दी जायगी। परिश्रम केवल परिश्रम ही मनुष्य की हैसियत की कसौटी होगा। जो परिश्रम करेगा केवल उसे ही जीने और खाने का अधिकार रहेगा।"

छः

. . . . . .

पंडितजी ने भी अपनी चाल का नाम 'आगे बढ़ना' ही रखा था। यद्यपि समष्टि को आगे बढाने का उनका शिक्षा-प्रयोग सफल सिद्ध नहीं हुआ था, जनता उसका परिहास करती थी, परन्तु उनके कुछ ऐसे विद्वान् मित्र थे, जिन्होंने उस प्रयोग को सार्थक बताया था।

उस शिक्षा-प्रयोग के आधारभूत सिद्धान्त पंडितजी के अपने तो कुछ थे नही। नई और पुरानी दुनिया के मनोविज्ञान के विश्लेषणात्मक उपयोग के बारे मे उनका बहुत अध्ययन था। उसकी सफलता और उपयोग पर उनका विश्वास था अब भी। वह निराश नहीं हुए थे। भारत के अष्टांग योग का भी वह बहुत बड़ा मूल्य समझते थे। उसमे जो धारणा का स्तर था उसी को वह शिक्षा का चरम लक्ष्य मानते थे।

एक मित्र ने एक दिन उनसे कहा—"यदि आप नगर के विद्यार्थियो में अपना प्रयोग चलाते तो सम्भवतः इतना शीघ्र आपको स्कूल न तोड देना पडता।"

पंडितजी हँसकर बोले—"नागरिकता बहुत-सी जटिलताओं मे जकडी है। मानसिक उत्थान के लिए अनागरिकता आवश्यक है। बाहर की उलझनें जितनी कम होंगी, उतनी उसे अन्तर्मुख होने में सहायता मिलेगी।"

"अन्तर्मुख होना क्या है?"

"समस्त भौतिक प्रपंच को अभौतिकता में प्राप्त करना।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् उसे मन मे प्रकट कर लेना।"

"तब फिर बाहर की भिन्नता कोई वस्तु नहीं है। नागरिकता और अनागरिकता के दो विभाग करने से फिर क्या लाभ है? जब बाहर को भीतर उपजा लेना आपका इष्ट है तो फिर 'ग्रामों की ओर' इस ध्वनि मे कोई तत्त्व नहीं है। नगर से ग्राम की ओर भागना ऐसा ही है जैसे आप अनुभव की परिपक्वता से खिंचकर बालकालिक विस्मृति की ओर जाते हो या बीसवीं शताब्दी मे आदि प्रस्तर-काल की ओर दौड़ते हो।"

"आप विज्ञान शब्द का अशुद्ध उपयोग कर रहे हैं। विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान ही विज्ञान की संज्ञा पाने के योग्य है। हल मे पहिया जोड़ देने से क्या हो जायगा। धरती माता की उर्वरा शक्ति पेशगी छीन लेना क्या दिवालिया हो जाना न होगा? गाडी के बैल खोलकर भाप के इंजन से उसमे वेग उत्पन्न करके केवल संघर्ष ही तो बढ़ा। जल और आयु में नए मार्ग उत्पन्न करके क्या मानवता चारो ओर से अरक्षित नही हो गई? बिजली और मशीन ने अस्वाभाविकता से लोक-जीवन कलुषित कर दिया, मजदूर नामक एक दीन और दयनीय वर्ग की रचना कर दी। साइंस जन-साधारण के उपयोग के लिए उद्भूत हुई होगी परन्तु बढ़ाया तो इसने जातियों का लालच ही। निर्माण इतना नहीं किया जितना ध्वंस! खिलाया इतना नहीं, जितना भूखों मार दिया। एक जाति ने दूसरे की प्रतिहिंसा बढ़ा दी।" पंडितजी बोले।

"फिर सभ्यता क्या है?"

"उस उदात्त मन्त्र का शुद्ध प्रयोग। वह मन्त्र है—'जियो और जीने दो।' ये गगनचुम्बी अट्टालिकाएं, अभेद्य दुर्ग, विशाल नगर, सेना और शस्त्रों से सँभाले गए साम्राज्य, ये राक्षसकाय यानों के दल और ये अणुशक्ति के अनुसन्धान ही क्या सभ्यता की साक्षियाँ हैं?"

"फिर सारा साहित्य और कला की रसज्ञता ये भी तो एक उलझन ही हैं?"

"हाँ यदि किसी स्वार्थपूर्ण विचार की प्रचारकता से ये सम्बद्ध हैं, तो निःसन्देह विषवर्द्धक ही है।"

"नहीं तो ?"

"नहीं तो आत्म-जागरण के ये सहायक है। मन के धनात्मक भावों की उपज के बीज-मन्त्र हैं। मै साइंस से अधिक कला को मानवता की सहायिका मानता हूँ। पर कला एक साधन है, लक्ष्य नहीं।"

"लक्ष्य क्या है ?"

"बहुत विकट प्रश्न ! फिर भी अपनी मति के अनुसार तुम्हें इसका उत्तर दूँगा। जीवन का लक्ष्य ? जीवन का लक्ष्य है अपने भीतर आत्मा की ज्योति जगाना।"

"अपने भीतर ?"

"हाँ अपने भीतर। इसे घोर स्वार्थ समझते होगे तुम ?"

"हाँ इससे ऐसी ही प्रतीति होती है। मनुष्य समाज का एक अंग है और समाज विश्व का एक टुकड़ा। तुम अपने को उससे उच्छिन्न नहीं कर सकते। यदि कर लोगे तो क्या मस्तिष्क की विकृति के एक उदाहरण न समझे जाओगे ?"

पंडितजी हँसने लगे।

"तुम्हारी अनागरिकता पहले ही मेरे सन्देह का विषय हो गई थी। परन्तु जब तक तुम छात्रों के बीच उस शिक्षा के प्रयोग मे घिरे रहे, तुम्हारी मानसिकता मे मैंने कोई भ्रम न समझा। तुम नगर छोड़कर ग्राम की ओर चले। वह तुम्हारा पीछे हटना था, परन्तु तुम वहाँ ग्राम-बालकों को शिक्षित करके उन्हें आगे बढ़ाने के शुद्ध उद्देश्य मे रत थे—वह तुम्हारा अवश्य आगे बढ़ना ही था; क्योंकि पश्चात्-पग होकर तुम भी उनके साथ नगर की ओर चले आते। सामाजिकता खोकर तुम्हारी मनुष्यता कैसे स्थिर रहेगी ?"

"सुधार, सेवा और उपदेश के कार्य सर्वथा एक पाखंड ही समझ पड़ते हैं मुझे अपने लिए, क्योंकि मेरे पास आत्मा का बल नहीं है।"

"इसीलिए आत्मा का बल संग्रह करने को मैं तुमसे विवाह करने का आग्रह करता हूँ। विवाह एक अस्वाभाविकता नहीं है, मनुष्य की परिपूर्णता है। उसकी सामाजिकता गृहस्थ से आरम्भ होती है।"

"समाज से पहले मनुष्य प्रकृति का एक अंग है। शारीरिक परिपक्वता के साथ उसे मन की प्रौढता भी साधनी है। मित्र मै नारी का मूल्य समझता हूँ उसकी कोई घृणा नहीं है मेरे पास। उत्तरदायित्वो से घबराता नही हूँ। वे तो मार्ग की प्रेरणा है।"

"एक बात तो यह ठीक ही कह रहे हो।"

"सभी बातें मान लोगे। बिना एक की साधना के अनेक की साधना असम्भव है। पहले अपनी पूर्णता जानना चाहता हूँ।"

"तुम अनेक भाषाओ के पंडित हो। साहित्य ही नहीं कला के प्रयोग मे भी सिद्धहस्त हो और संगीत, मै उसका आलोचक और पारखी नही हूँ, फिर भी कह सकता हूँ तुम उसकी प्रवीणता भी रखते हो।"

"कहाँ, यह सब एक कृत्रिमता है। मैं स्वयं उन क्षेत्रों में भटका हुआ हूँ, इसलिए अधिक दिन तक जनता को बहका न सकूँगा। जब स्वयं मुझे कोई मार्ग नहीं दिखाई देता तो अपनी रचना से जनता को कहीं नहीं ले जा सकता।"

"तो क्या काव्य और कला का भी संन्यास ग्रहण करोगे?"

"हाँ।"

"यह सिड़ीपन है। समाज से हटकर जब कलाकार किसी वस्तु का निर्माण करता है तो वह समाज से ही संबद्ध है। बिना बाह्य जगत से जुड़े तुम कैसे एकांत साध लोगे?"

"अपने गाँव मे जाकर स्वयं खेती करूंगा।"

"सिगरेट और चाय?"

"दोनों छोड दूँगा।" क्षणिक गम्भीरता के पश्चात् पंडितजी ने हँसकर कहा—"उन दोनों वस्तुओं को क्या धरतीमाता से प्राप्त न

कर सकूँगा ?"

"व्यसन न समझोगे उन्हे ?"

"आत्मा की अनुभूति मे जितनी देर मनुष्य स्थिर रह सकता है, उसके अतिरिक्त सब व्यसन है। क्या काव्य और कला व्यसन नही है ?"

"मस्तिष्क की मशीन ढीली पडती जा रही है तुम्हारी। भोजन के निमित्त खेती, खेती के लिए भोजन, यही अनुक्रम रहेगा तुम्हारा। पुस्तक पढोगे ?'

"नहीं पुस्तक भी नहीं, समाचार-पत्र भी नहीं। दोनो जंजाल है। मन का भ्रम बढ़ाने के अतिरिक्त और उनका कोई उपयोग नही।"

"परन्तु कठिनाई तो यह है, तुम्हे अपना भ्रम नही समझ पड़ रहा है। भगवान् मनुष्य से भिन्न नहीं है। मनुष्य के अध्ययन मे ही उसका निवास है।"

"भगवान् को कहाँ ढूँढने जा रहा हूँ मैं ? मै तो 'अपने' अनुसंधान मे हूँ।"

"एकांत में ले जाकर क्या तुम्हारा अहंकार तुम्हे अपना परिचय दे देगा ? लोगो के सामने उसे लज्जा आती है क्या ? मेरी समझ में यदि एकांत ही तुम्हारा लक्ष्य है तो वहाँ साहित्य-कला का निर्माण करो, यदि संसार से विचार का बन्धन भी काट दोगे, तो निःसन्देह तुम पागल हो जाओगे।"

"कर्म से चिंतन अधिक श्रेष्ठ वस्तु है।"

"इन दोनो की संधि अभीष्ट होनी उचित है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता मे इनकी कोई तुलनात्मकता नहीं है।"

"खेती करूँगा ही, क्या वह कर्म नही है ?"

"शारीरिक कर्म एक तुच्छता है। सभ्यताएं मानसिक विकास की सूचनाएं है।"

"सभ्यता की परिधि से ग्राम का निष्कासन न जाने क्यों तुम्हें प्रिय

हो उठा है। जीवन का सत्य एक सरलता है और सरलता ग्रामो की ओर अधिक है।"

मित्र पंडितजी के उद्देश्य मे परिवर्तन नहीं कर सका, न-जाने कब से उन्होने निरन्तर विचारों से उसे परिपुष्ट किया था। माता-पिता के भी आग्रह उन्होने विफल कर दिए। इष्ट-मित्रों का भी कहना नही माना। सबसे विग्रह करके वह एक दिन अपने ग्राम-निवास की ओर चल दिए।

तिपनियाँ से बहुत दूर न था उनका गाँव, वहीं से उनका मार्ग जाता था। मोटर रुकी तिपनियाँ पर।

वे दोनो फिर मिल गए। दोनो के हृदय मे बढ़ जाने की लालसा थी। परन्तु उन दोनो के मुख विरुद्ध दिशा की ओर थे। एक नगर की ओर दौड रहा था, दूसरा ग्राम की ओर।

मोटर को रुकता हुआ देखकर लछमियाँ बीडी का टुकडा फेंककर उसकी ओर दौडा। उतरते हुए यात्री को पहचाना। वे निकले वही चिर परिचित पंडितजी।

"जय हिन्द, पंडितजी!" बिना हाथ जोड़े ही लछमियाँ ने लट्ठ-सा मारा। पहले लछमियाँ सदैव ही उनसे 'पायलागूँ' कहता था।

लछमियाँ को देखकर मुसकाए पंडितजी—"जय हिन्द, लछम! जय हिन्द! अच्छे तो हो?"

"हाँ पंडितजी अच्छा ही हूँ! आप लौट आए नगर से। मै तो देखिए आपके मंत्र के अनुसार बढ़ा ही जा रहा हूँ। घर से स्कूल, स्कूल से तिपनियाँ, तिपनियाँ से नगर, नगर से मोटर, मोटर से रेल और फिर रेल से हवाई जहाज! यही तो बढना है। परन्तु यह क्या, आप तो फिर नगर से ग्राम की ओर आ गए!"

"आगे बढ़ना और पीछे हटना, ये दोनो व्यक्तिगत विचारों के कल्पित अनुष्ठान हैं। तुम्हे मेरी गति मे प्रगति नही दिखाई देती तो मुझे भी तुम्हारा आगे बढना कुछ ऐसा ही दिखाई दे रहा है।"

व्यंग्यपूर्वक लछमियाँ बोला—"फिर खोलोगे क्या स्कूल?"

"हाँ। परन्तु इस बार शिक्षक भी मै ही रहूँगा और छात्र भी मैं ही ?"

"तब ठीक है पंडितजी।" लछमियाँ मोटर की छत पर चढते हुए बोला। "कौनसा ट्रंक है ?"

"ट्रंक कोई भी नही है।"

"क्यो ?"

"आवश्यकताओं की बढती हमारा बढना नही है। बोझ जितना हलका होगा, क्या हमारे बढने मे सहायक न होगा ?"

"बोझ के लिए कुली जो हैं। बिस्तर तो होगा कोई ?"

"दो कंबल हैं—एक झोले मे है, दूसरा कंधे पर।"

निराश होकर लछमियाँ नीचे उतरा। मन मे सोचने लगा—"ऐसी मूर्खता का नाम 'पडितजी' किसने रख दिया ?" परन्तु पंडितजी की सौम्यता और कला के आकर्षण थे उस पर। वह उनके निकट आ गया और उनके साथ-साथ उनके गाँव के रास्ते पर चलने लगा।

पंडितजी ने लछमियाँ की ओर दृष्टि डाली। स्कूल छोडने के आठ-दस महीनो मे ही उसमें एक अद्भुत परिवर्तन हो गया था। वेश, शारीरिकता और चेष्टाएं सबमें बदल गया था वह। नीलाम मे खरीदे हुए किसी साहब के कोट-पैंट से वह सुशोभित था। कोट के खुले हुए कॉलर के भीतर उसने एक रंगीन अंगोछा लटका रखा था अपनी गरदन पर से। पैर मे पलटनियाँ भारी बूट जमा रखा था। सहज ही परिलक्षित हो रहा था कि वह किधर बढ जाना चाहता था।

लछमियाँ उनके हाथ के झोले और कंधे पर के कंबल को लेने के लिए बढा।

"नही लछम, मै इतना ही बोझ लाया हूँ, जितना स्वयं उठा सकता हूँ। इसलिए किसी अन्य सहायता की अपेक्षा मुझे नहीं है।"

"अच्छी बात है। चलिये फिर कुछ दूर तक आपके साथ चलकर ऐसे ही पहुँचा देता हूँ आपको।"

"तुम्हारी इच्छा। क्या कर रहे हो आजकल ?"

"वही आगे बढ़ जाने के फेर में पड़ा हूँ। मंत्र यह आपने ही दिया है। आपने मन मे एक उथल-पुथल मचा दी है। गांव के कठघरे से तो बाहर कर दिया, पर ठीक-ठीक मार्ग नहीं बताया।"

"मार्ग कैसे नहीं बताया। यहाँ मजूरी करने लगे हो, गाँव की खेती क्या बुरी है ?"

"मजूरी तो केवल एक-दो दिन के लिए है।"

"चटपटे स्वाद के फेर मे पड़ गए लछम तुम। कपड़ों की चमक-दमक मे फँस गए।"

"लेकिन पंडितजी, ये रंग मेरे दिमाग में आप ही ने उपजा दिए। लछमियाँ अवश्य ही अपने पिता के पद-चिह्नों पर अपनी आँखें बिछाता। आप ही ने उसके सपनों को तोड़कर एक दूसरा जगत उसके सामने रख दिया। क्या आपने स्कूल के मुख्य पाठ संसार के रग ही से नहीं खोले थे ?"

"अवश्य। परन्तु भीतर की ओर; भीतर की ओर बढ़ाने को। रंग को मन में खोलना मेरा उद्देश्य था, वहाँ रंग के खुल जाने पर फिर बाहर उसकी कोई खींच नहीं रह जाती।"

"बाहर के रंगों की पहचान आवश्यक थी। इसी से मन में कोई रंग नहीं उभर सका। स्वाद चखकर ही तो मन में कोई उसे उपजा सकता है।" कहते हुए लछमियाँ को कुछ याद आई और उसने जेब से बीडी का बंडल निकाला—"लीजिए पंडितजी, बीड़ी पीजिए।"

लछमियाँ कितना आगे बढ़ गया, यह सोचते ही पंडितजी चकराने लगे। उन्होंने बीड़ी के बंडल के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई।

लछमियाँ बोल उठा—"आप पीते तो हैं बीड़ी।"

हँसे पंडितजी—"और तुम कब से पीने लगे ?"

"तभी से। सिगरेट के जिन छोटे टुकड़ों को आप बेकार समझकर फेंक देते थे, मै उनका अनुपयोग सहन नहीं कर सकता था। मैं उनको

बीन-बीन कर रख लेता था और लुक-छिपकर उनका मुख सुलगाकर तमाम धुँआ चूस लेता था।"

पंडितजी के मुख पर बडी ग्लानि के भाव उदित हुए। ऐसा जान पडा मानो उनसे बडी भूल हो गई।

लछमियाँ कहता जा रहा था—"घर पर अभ्यास जारी रखने के लिए पिताजी की चिलम दीवारो के सहारे मिल ही जाती थी। लीजिए पीजिए, अब तो हम मित्र है। न मुझे आपसे न आपको मुझसे कोई भय है। मै तो छिपकर पीता ही था, आप क्यो हमसे छिपाते थे?"

"यह एक दुर्गुण है। तुमसे इसीलिए छिपाता था कि तुम इससे बचे रह सको।"

"फिर पूरी जड तक क्यों नही पी गए आप। धुँआ छिपा दिया, पर धुँए का कारण सामने रख दिया मेरी आँखो के आगे। विचार कीजिए तो पंडितजी सिगरेट-बीडी हमारे आगे बढने की पहचान है। देखिए, रेल कैसा धुँआ उडाती है और उसकी चाल पर तो तनिक ध्यान दीजिए, आलस यह भगाती है, जाडा यह दूर करती है। हिम्मत भी बढाती है और कई रोगो को भी भगाती है।"

"नहीं लछम, यह महान् भयानक लत है; नशा है, भयंकर विष है इसमे।"

"जब हजम हो गई तो फिर कैसा विष? बीडी कुलियो की वस्तु है। आप पंडित ठहरे। यही एक झिझक आपको बीडी देते हुए मेरे मन में पैदा हो रही है। परन्तु विश्वास रखिए पंडितजी, जब मै कुछ और आगे बढ जाऊँगा तो सिगरेट ही पीऊँगा।"

"मैं फिर भी तुम्हे यही शिक्षा दूँगा कि इसे छोड दो।"

"गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जब मेरा-आपका था, तब भी आप किसी बात के लिए मना नही करते थे। अब हम दोनों आज़ाद हैं, फिर आप यह कैसी शिक्षा दे रहे हैं? अब आप अपनी कहिए, आपने छोड दी?"

"हाँ, मैं छोड़ दूँगा।"

"जल्दी मत कीजिए। गाँव मे कुछ अडचन तो पडेगी आपको। बडा बक्स मँगवाकर रखना पडेगा।"

लछमियाँ की बातें तीर-सी लग रही थीं पंडितजी को। उनके पीकर फेके हुए सिगरेट के टुकडों की बात ने तो उनका मुख ही सी दिया था। वह मन-ही-मन इस निश्चय पर दृढ होने लगे थे कि सिगरेट पीना छोड़ दिया जायगा।

पंडितजी ने जब बीडी की ओर हाथ नहीं बढ़ाया तो वह स्वयं उसे सुलगाकर पीने लगा।

पंडित जी मूक-धीर गति से गाँव की ओर बढ़े जा रहे थे। हाथ का झोला भारी पडने लगा था उन्हे।

"मैं फिर आपसे कहता हूँ पंडितजी, चाय और सिगरेट जल्दी सीखने की वस्तु चाहे न हो, जल्दी छोडने की चीजें कदापि नहीं है। मैंने बडे-बडे डॉक्टरो के मुख से सुना है कोई पुरानी आदत एकाएक छोड देने से स्वास्थ्य को गहरा धक्का पहुँचता है," लछमियाँ बोला।

पंडितजी ने उस प्रकरण को बदलकर कहा—"फिर क्या करने का विचार है तुम्हारा?"

"व्यापार करने का। लक्ष्मी का निवास व्यापार ही है।"

"क्या व्यापार करोगे?"

"पहाड़ की चीजें देस ले जाऊँगा, देस की पहाड। अभी एक बैलगाडी तैयार कर रहा हूँ। कुछ रुपया जमा होने पर मोटरगाडी खरीद लूँगा। दूकान भी खोल लूँगा।"

"माता-पिता की सम्मति है?"

"वे पुरानी लीक पर चलते है और मै आ गया हूँ मोटर की लम्बी-चौडी सड़क पर। मैंने एक साथी साझेदार ढूँढ़ रखा था, मधुवा। पैसे वाला है, पर तिपनियाँ, यह सारी चोट्टो की बस्ती है। इन्होने उसके पिता को बहका दिया है और उसने मेरा साथ देने से इनकार कर दिया है। मैं उस पर दावा कर सकता हूँ या नहीं?"

"कैसा दावा ?"

"उसने हाँ कहकर फिर नाही कर दी।"

"कोई रजिस्ट्री हुई थी।"

"आपस मे तो हमने एक-दूसरे को वचन दिया था। हम क्षत्री के बेटे हैं, पंडितजी, प्राण जाय पर वचन न जाई। वचन की खातिर महाराज दशरथ ने अपने परम प्रिय पुत्र को वन मे भेजकर स्वयं प्राण त्याग दिये। जीवन की दौड़ मे मोटरो द्वारा पराजित कर दी गई उसके पिता की एक बैलगाडी पडी थी।"

"और उस बैलगाडी को तुम कैसे परास्त कर दोगे ?" पंडितजी ने पूछा।

"मेरी बात तो सुन लीजिए पहले। सड रही थी वह गाडी। दोनो पहिए उखड गए थे, लोहे को जंग खा गया था और बान पर गौरैयो ने अपनी चोचें मार दी थी। मैने कठिन परिश्रम करके अनेक जोड-जंतर लगाकर वह गाडी खडी कर दी थी। गाडी दे देना उसका वचन देना नही हुआ क्या ? जब बैल देने का समय आया तो उसने गरदन फिरा ली। इसी बात पर मै पिताजी से लड़ पडा और गाँव भी छोड दिया।"

"फिर रहते कहाँ हो ?"

"भुमिया के मंदिर की धर्मशाला मे। मैं वहाँ भी परिश्रम को कटिबद्ध दो भाग्यवादियों के फेर में पड गया हूँ। आप ही बताइए कौन तुक है कर्म की भाग्य के साथ ?"

"मै तुम्हारी बात नहीं समझा।"

"खुलासा यह है, उस धर्मशाला के दो सिरों पर एक मे एक साधू और दूसरे मे एक कोढ़ी का अड्डा है। कोई उपाय बताइए कि वह हत्या हटे वहाँ से।"

"धर्मशाला में तुम्हारा व्यापार तो चल जाय और वे भगवान् का सहारा छोड़ दें ?"

"क्या भगवान् का सहारा है! पक्का व्यापार चलता है उनका, बिना पूँजी और बिना परिश्रम के।"

"लछम, भगवान् ने तुम्हारे खेत में अपने आशीर्वाद बो रखे थे। पवित्र श्रम तुम्हारा धर्म था, सन्तोष तुम्हारी सम्पत्ति, दीन-दुखी प्रतिवासी की सहायता, अतिथि का सत्कार तुम्हारा स्वभाव था। प्रकृति के वरदान तुम्हारे सहचर थे, आवश्यकताओ की कमी मे तुम्हारा जीवन सुलझा हुआ था, न शरीर पर फैशन की चित्र-विचित्रता और न थी हृदय में कूटता और कुटिलता, तुम भीतर-बाहर समान थे। तुम कृत्रिमता से दूर थे और नीरोगता ने कई गुना तुम्हारे सुख बढ़ा रखे थे।"

"घोर दरिद्रता! पंडितजी घोर दरिद्रता! कौन कहता है किसान की रोटी मीठी है?"

"तुम्हारे खेत में यह कटुता सुधारक ने बो दी। उसी ने तुम्हारी रोटी मे रूखापन उपजा दिया। तुम चुपड़ी के फेर में पड गए। तुम्हे सिक्को की चमक ने आकृष्ट कर लिया।"

"वह सुधारक आपके सिवा और कौन था? क्या आप ही ने मुझे देश-विदेश के इतिहास और भूगोल के सुनहरे दृश्य नहीं दिखाए थे?"

"मैं?" पंडितजी ने चकित होकर अपनी आत्मा के भीतर टटोला, "नहीं भाई, मेरा शुद्ध उद्देश्य तुम्हारा जागरण था, तुम्हारे मनोभावों का उत्थान था। इस प्रकार तुम्हें इन्द्रियो का दास बना देना मुझे कदापि अभीष्ट न था।"

"बढ़ना क्या जागरण का ही मतलब नही है।"

"तुम झूठी दिशा की ओर बढ़ रहे हो। सुनो, सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह मन की एक दशा है, वह मन की ही एक रचना है। शुद्ध आचार-विचार, शुद्ध वाणी और शुद्ध कर्म उसके अंग-प्रत्यंग हैं।"

"आप तो स्कूल मे कहते थे, मनुष्य को मनुष्य से घृणा नहीं करनी चाहिए। फिर यह शुद्ध-अशुद्ध क्या कहने लगे आप ? उन दिनों तो आप कपडे पहनकर दाल-भात उडा जाते थे, अब कहाँ मति बदल गई आपकी ? यह सब पाखंड, सब आगे बढने की रुकावटें है। सोचा था, कुछ दूर तक आपके साथ चला चलूँगा।"

"मुझे कुछ भी आपत्ति नही है। मेरे साथ मेरे गाँव ही मे चलो। मै भी खेती करूँगा; तुम मेरे सहायक हो सकते हो।"

"गाँव ही मे जब जाना होगा तो अपने ही घर क्यो न जाऊँगा ?" कहकर लछमियाँ लौट जाने के विचार से खडा हो गया।

"जैसी तुम्हारी इच्छा," पंडितजी ने कहा।

"उन दोनों को खिसकाने की कोई तरकीब नहीं बतायंगे आप ?"

"किन दोनों को ?"

धर्मशाला की खोपडी पर बडी गहरी धँसी हुई उन दोनों कीलों को। बिना परिश्रम के ही खा जाने वाले उस साधू और उस कोढ़ी को। एक अछूत होकर वहाँ बीमारी फैलाता है और दूसरा परम पूजनीय होकर वहाँ उपदेशो के स्वाँग रचता है।"

"क्या करता है वह ?"

"मुख में राम-नाम, बगल मे समझ लो बस।"

"यदि उसके मुख मे राम-नाम है, तो वह साधु है। साधु की निन्दा पाप है।"

"वह साधु है ? पंडितजी आप तो मुझे सिर्फ सिगरेट पीना सिखा सके, उसने खुले-आम गाँजा पीना भी सिखा दिया।"

"तुम दूसरे पर दोष क्यो रखते हो ? अपनी उस दोषग्राहिणी बुद्धि का त्याग करो। तुम कहते हो वह साधु राम नाम भी जपता है।"

"राम-नाम तो जपता है, बीच-बीच मे, प्रायः दिन भर।"

"दिन-भर ?" पंडितजी ने चौककर पूछा।

"हाँ।"

"तब वह चक्र मे स्थित है ?"

"चक्र मे स्थित होना क्या है ?"

"तुम न समझोगे।"

"इधर आप कई नए-नए शब्द सीखकर आये है। कुछ समझाओ तो सही।"

"सुनो, चक्र काल का मार्ग है। उसमे ठहरना निरन्तर उसकी चेतना रखता है। निरन्तर या कुछ टूट-टूटकर भी 'राम-नाम' के उच्चारण से वह फिर-फिरकर अपने मार्ग में लौट आता है। राम की ध्वनि वातावरण मे अत्यन्त पवित्र लहरे उत्पन्न करती है। उस दीपक को जलता ही रहने देना उचित है। देखो लछमन, वाणी का सबसे बडा पाप दूसरे की निन्दा करना है और कर्म का सबसे बडा कलुष दूसरे से घृणा करना।"

"आप पहले तो पूँजीपतियो की, धर्म के ठेकेदारो की, जमीदारों की, युद्ध की पाशविकता बढाने वाले साम्राज्यवादियो की बडी निन्दा करते थे। आज क्या हो गया यह आपको ?"

"अब मैं आगे बढ गया हूँ। अब मैंने समझा है, दूसरे की निन्दा करना मेरा ही दोष है। दूसरे के लिए घृणा बढ़ाने से नहीं प्रेम की वृद्धि से मुझे आत्मा का लाभ होगा।"

"दूसरे से घृणा नहीं करेंगे आप ? उस कोढ़ी को गले से लगा सकते हैं आप ?"

"मन में घृणा न करूँगा उससे। बडे क्षण-भंगुर उपकरण हमारी देह के सहचर हैं लछमन ! क्या हम यह कहते हैं कि पूरे विश्वास के साथ हम निरन्तर ऐसे ही रहेगे ? भाग्य के लेख को कौन जान सकता है ? कौन कह सकता है, किसी दिन हम भी वैसे ही न हो जायं ?"

"आज आप भाग्य मे भी विश्वास करने वाले हो गए, पहले तो आप कर्मवीरता के ही गीत गाते थे।"

"हाँ लछमन, मैंने देखा और पाया, व्यायामशाला प्रत्येक को

बलशाली नही बना सकती, विद्यालय सभी को विद्वान् नही बना सकते और न राज्य की प्रणाली हर घर मे सम्पत्ति भर सकती है। समाज की पंगुता, अज्ञान और अन्धकार का पूर्णतः उच्छेद कोई नहीं कर सकता। मैं अधिष्ठाताओ की निन्दा नहीं करूँगा, न किसी प्रणाली की। इस निन्दा के पाप से बचने के लिए ही मै भाग्यवादी हो गया हूँ। फिर भाग्यवाद कर्म की भिन्नता नहीं, उसी का संचय तो है।"

"आप डबल पंडित हो गए हैं अब, कुछ समझ ही नहीं पड़ते हैं। तभी आपके लिए नगर मे जगह नहीं रही और आप ग्राम की ओर भाग चले। नगर में कुछ कर्म कर नही सके और चले भाग्य-वादी बनकर किसान को उल्लू बनाने।"

"जब मै भाग्य को कर्म की ही रचना मानता हूँ तो तुम मुझे भाग्य वादी क्यो कहते हो ? सुनो, वर्तमान काल के श्रम का नाम कर्म है और भूतकाल का कर्म ही भाग्य है।"

"वर्तमान काल में जो श्रमजीवी की दीन दशा है वह उसके भूतकाल की अकर्मण्यता है क्या ?"

"भूतकाल हमारे जन्म से पहले भी आरम्भ हो चुका है।"

"फिर उसकी याद क्यो नहीं है ?"

"हमारे मस्तिष्क की अपूर्णता ही इसका कारण है। याद न होने से ही उसको न मानना बुद्धिमानी नहीं है। इसी जन्म के बचपन की स्मृति भी किसको रहती है ?"

"बस ठीक है पंडितजी, चाचाजी हैं ही आपके ग्राम मे। क्या चिन्ता है ? प्रातः-संध्या दोनो समय बिना हाथ-पैर हिलाए पकी-पकाई रोटी मिलेगी।"

"भाग्यवादी की सबसे बडी पहचान उसका स्वावलम्बी होना है। मै स्वयं खेती करूँगा वहाँ जाकर।"

"हल भी चलायंगे आप ?"

"हाँ, हाँ, चलाऊँगा।"

"झूठी बात। जात जो चली जायगी आपकी ?"

"मैं जात के इस पाखण्ड को नहीं मानता।"

"मै पढ़े-लिखे के हल चलाने की बात भी नही मानता। पढने-लिखने से मन बाहरी जगत् से जुड जाता है। किसान की एकाग्रता स्थिर रखने के लिए उसको पढाई-लिखाई से दूर रखना होगा। आपने अपने स्कूल में लिखाई-पढाई शामिल नहीं की थी, बात तो बडी बढिया थी, परन्तु आपने कला के सपने जो दिखा दिए। वह पढने-लिखने से भी भयंकर वस्तु है। अच्छी बात है फिर, दूर थोडे हैं आप, एक-दूसरे को देखते रहेंगे हम लोग।"

"अपनी गति का नाम जब हमने बढ़ना रखा है, और हमारी दिशाएँ जब बिलकुल विरुद्ध हैं तो फिर हम निकट कहाँ रहेगे ?"

लछमियाँ हँसने लगा—"लेकिन एक बात खूब कही आपने—साधू चक्र मे जमा हुआ है और यह किसान का बेटा लछमियाँ गाडी मे दो चक्र जमा लेने पर भी मूर्ख है। अच्छा, रहने दीजिए साधु को, रौनक तो है उससे धर्मशाला मे। दूर-दूर से भेंट चली आती है और नैवेद्य मिलता है चखने को। पर उस कोढ़ी का क्या करूँ ? साधु भी तो उसको निकालकर बाहर करने के पक्ष मे नहीं है। अछूत समाज की सेवा करता है, इसलिए वह हमारा भाई है, लेकिन वह कोढ़ी ? इसने सारी धर्मशाला विष के कीडे फैलाकर अपवित्र कर दी है।"

"वह भी समाज की सेवा करता है।"

"क्या राख सेवा करता है ?"

"करता कैसे नहीं ? वह अपनी परवशता से जनता को निरन्तर यह चेतना देता रहता है कि धन-सम्पत्ति, शरीर और स्वास्थ्य क्षण-भंगुर हैं, इस जगत् के सम्बन्ध भी स्वार्थ के हैं और यह जगत् भी झूठा है।"

अपने अनुभव मे नवीन, नई अवस्था का वह युवक लछमियाँ समझ ही नहीं सका, जगत् क्यो झूठा है।

पंडितजी कह रहे थे—"एक परम सत्य की अहनिश घोषणा करना क्या सेवा नही है ? अपने सर्वांग मे रोग के गहरे और सदैव ही बढते हुए घाव लेकर कोढी हमारे मन मे 'दया' के भाव उपजाकर उसकी पवित्रता साधता है। कोरे उपदेश देने वाले सुधारक से वह कोढ़ी कहीं अधिक समाज-सेवी है।"

"मतलब आपका यह है कि उस साधु से कोढी अच्छा है।"

"अपनी-अपनी जगह पर दोनो अच्छे है।"

"बस हो गया पंडितजी, दिन भी अच्छा रात भी अच्छी, दोनों अच्छे। मालूम हो गई आपकी पोल। जाइए, पधारिए। फिर भेंट होगी कभी तिपनियाँ के मोटर के अड्डे पर।" कहकर लछमियाँ लौट गया।

पंडितजी ने भी अपने गाँव का रास्ता पकड़ा और उन्नति के एकांत की ओर अग्रसर हो गए। लछमियाँ भी आगे बढ़ जाने की आशा मे भीड की ओर चल पडा।

वह मन मे सोचता हुआ चला जा रहा था—"साधु और पंडितजी एक ही बोली क्यो बोलने लगे ? जगत झूठा है ? इतना ठोस इतना भारी, इतना मधुर और इतना उजला संसार झूठा कैसे हो गया ? तब सचाई क्या है ? रात को जो सपने दिखाई देते है, तब क्या वे सच्चे हैं या गाँजे का दम लगाकर बाबाजी जिन पुराणो की ऊटपटाँग बातों का बखान करते हैं, वे सच्चे है ?"

यथासमय लछमियाँ तिपनियाँ पहुँच गया। उसने दूर से देखा, हलवाई की दूकान के पास एक मोटर ठहरी हुई है। यात्री उसमें से उतर गए है। वह जाते-जाते अपने मन मे कहने लगा—"हरी मोटर, यह तो हमदम की जान पडती है।"

हमदम मोटर का ड्राइवर, बडे मजे का आदमी, लाइन-भर मे अपनी उदार और मौजी प्रकृति के कारण प्रसिद्ध था। उसके बाल-बच्चे जोरू-जाँता कहीं कुछ न था। मोटर ही उसका घर था। रात को जाडे के

दिन हुए तो मोटर के तमाम परदे गिराकर वह मोटर की सीट के गद्दे मे कंबल बिछाकर सोता था। सड़को के आसपास की दूकानो से ही जब भूख लगी, जब अवसर मिला, कुछ खा पी लेता था।

बडा विनोदप्रिय था वह। प्रत्येक राह चलते और अपरिचित से भी परिहास करने मे उसे कोई झिझक नहीं होती थी। प्रत्येक के दुःख-सुख मे साझा कर लेने मे उसे कोई संकोच नही होता था। जो-कुछ कमाता सब खा पीकर, खिला-पिलाकर बराबर कर देता था। कोई चीज जोडने का उसे शौक नही था। कपडे भी केवल दो जोडी से अधिक न थे उसके पास। एक-दो कबल सुबह बाँध-बूँधकर अपनी सीट के नीचे रख देता था वह। एक लोटा भी वहीं पडा रहता था। मोटर के चक्के के सामने एक दराज ही उसके बक्स का काम देता था। यातायात-सम्बन्धी कागज-पत्रो के सिवा उसी मे उसका बीडी का बंडल दियासलाई-पान की डिबिया भी रखे रहते थे। कभी कभी उसका बटुआ भी उसी मे देखा जाता था। एक साबुन की टिकिया एक सेफ्टी भी उसमें रहते थे। मोटर के प्रवेश-द्वार मे जुडे हुए आइने मे देखकर कभी सातवें-आठवें दिन उसकी दाढ़ी भी बन जाती।

मन मे किसी के प्रति वह कोई मैल जमा नही रखता था। जो भी विचार मन में आया, खट से कह देता था। उसकी प्रकृति से परिचित हो जाने पर कोई भी उसकी बात का बुरा नही मानता था।

सब धर्मों के लिए हमदम की मान्यता थी। सूर्योदय और सूर्यास्त के लिए वह हाथ जोड़ता था—संध्या के दीपक के लिए भी। पहाड को आते-जाते हिमालय की चोटियो को भी हाथ उठाकर वह अभिनन्दन करता था। जो भी मिलता, उसका परिचित होता चाहे न होता, अवश्य उसकी 'जय हिन्द' हो जाती थी।

मोटर उसकी नहीं थी, वह नौकर था। कोई 'मुर्गी' बन गई तो बन गई। अतिरिक्त घूँट चल जाती उसकी, बनाने का लालच न था।

उसमें। सचाई की कमाई मे ही बरकत मानता था हमदम। बात भी ऐसी ही थी।

हमदम—अकेला दम, न उसे आये की खुशी थी, न गये का कुछ गम। 'टमाटर' के नाम से उसने अपने लिए एक चिढ पाल रक्खी थी, प्रत्येक मोटर के अड्डे मे छोटे-छोटे बच्चे उसको देखते ही "टमाटर! टमाटर!" कहकर उसे चिढ़ाते। हमदम उनके पीछे-पीछे दौडकर कभी गलत दिशा मे पत्थर फेंक देता, कभी झूठे क्रोध से उन पर बडबडाता।

हमदम के गृहस्थी नहीं थी, पर हृदय मे मोह पूरा था। उसने एक बिल्ली पाल रखी थी, अंबर के रंग की। हलद्वानी मे एक मित्र के यहाँ रख रखा था उसे। उसके लिए दूध और भोजन का भी प्रबंध कर रखा था उसने। चूहो का हिसाब-किताब वह पडौस मे स्वयं कर लेती थी।

बडा अच्छा मैकेनिक था हमदम। मोटर की एक-एक नस-नाडी की स्पष्ट समझ थी उसको। इसका उपयोग वह अपने अन्य भाइयो की सहायता के लिए करने को सदैव ही तत्पर रहता था। कई छोटे-मोटे पुरजे वह स्वयं भी बना लेता था। कहते है हमदम पहले किसी रेल के लोको शेड में भी काम कर चुका था। किसी अधिकारी से एक छोटी-सी बात मे लड पडा और नौकरी छोड दी।

तब उसने मोटर-ड्राइवरी सीख ली। कुछ दिन देस मे मोटर चलाने के पश्चात् वह पहाड मे गाडी चलाने लगा। पहाड उसे अत्यन्त प्रिय है। प्रायः दस वर्ष से वह पहाड ही मे है। पहाडी बोली भी वह खूब अच्छी तरह बोल लेता है। पहाड का रहन-सहन भी उसके स्वभाव मे प्रविष्ट हो चुका है। उसके वेश-भूषा और गति-आकृति मे भी यही बात है।

मोटर के नीचे, सीट पर का एक गद्दा बिछाकर हमदम पीठ के बल उसमें पड़कर मोटर के तले मे कुछ ठोक-पीट कर रहा था। सब यात्री

उसमें से उतर पडे थे। कोई चाय पी रहा था, कोई खाना-पीना कर रहे थे और कोई बातचीत।

लछमियाँ ने मोटर के निकट आकर कहा—"जयहिन्द हमदम!"

'खट-खट' करते हुए हमदम ने उत्तर दिया—"जयहिन्द, भैया लछमियाँ!"

"आज बहुत दिनो मे दिखाई दिए। यहाँ तो ख़बर उडी थी, तुम पाकिस्तान चले गए।"

हमदम हँसने लगा—"बात असल है मन की। मन में अगर सफाई और सचाई है, तो सारी दुनिया मे पाकिस्तान है। अगर मन मे मैल है, लोभ लालच है, झूठ-बेईमानी है, पडोसी को खा जाने की इच्छा है, तो सारी दुनिया मे अँधेरा है।"

"टमाटर जो खाते वहाँ पेट-भर!"

हमदम चिढ उठा—"क्या गंदा नाम लिया, ऐसा हथौड़ा खींचकर मारूँगा कि डेढ टाँग का जानवर बना दूँगा।"

"हमदम भाई!" लछमियाँ ने पुकारा।

"ऐसे गंदे आदमियो से बात नही करता मैं।"

"अच्छा, अब कुछ न बोलूँगा। थे कहाँ तुम? आज इतने दिनो मे दिखाई दिए हो?"

"बुख़ार मे चित पडा रहा दो महीने, हलद्वानी ही था। आज कुछ ठीक होकर आया था, तो गाडी बीमार हो गई।"

"क्या हो गया इसे?"

"क्या बताऊँ? पहिया कुछ खराब हो गया। रेंच तो उठाकर दो जरा।"

"कहाँ है?"

"औजारों के बकस में; छोटा वाला खाना।"

लछमियाँ ने रेंच निकालकर हमदम को दिया। पेच कसकर हमदम

बाहर निकल आया और लछमियाँ की पीठ थप-थपाकर बोला—"वाह दोस्त ! क्या हाल-चाल हैं ?"

"ठीक ही तो हैं।"

"गाडी नहीं हुई तैयार अभी ?"

"गाडी तो तैयार हो गई।"

"सडक पर लाकर चाल नहीं दिखाई तुमने अब तक उसकी।"

"क्या बताऊँ ? साभी धोखा देकर भाग गया। बैलो की ढूँढ मे हूँ।"

"दो नही मिलते तो एक ही बैल की गाडी बना लो।" दुमदुम ने एक चीथडे से तेल-सने हाथ पोंछे।

"एक ही कहाँ से ले आऊँ ?"

"एक ! तुम खुद एक हो तो सही।"

"मैं ही जब बैल बन गया तो गाडीवान कहाँ से लाऊँगा ?"

"गाडीवान ही जब बैल हो गया, तो फिर उसकी जरूरत ही क्या रही ? दाईं-बाईं साइड समझकर लीक-लीक आँख खोल चलते रहना। पैदल को बचाना और मोटर से बचते रहना। आँख खुली और पीछे मोटर के भोंपू पर कान चौकस रखना। वाह दोस्त, जीते रहो, तुम मोटर से कंपिटीशन करोगे ?"

लछमियाँ सिर खुजाते हुए कहने लगा—"कह दूँ फिर ?"

"अगर कुछ गडबड मुँह से निकाला, तो मेरे हाथ में यह हथौडा है।"

"ठीक हो गई मोटर ?"

"हाँ।"

"क्लीनर कौन है ?"

"कोई नहीं।"

"मुझे रख लो, कब से कह रहा हूँ।"

"बैलगाडी कंपनी के मालिक हो तुम, मोटर की सफाई का गंदा काम कर सकोगे ?"

"कर लूँगा, ड्राइवर बन जाने की आशा पर।"

"उस्ताद कहोगे मुझे ?"

"क्यो नहीं ? हर घंटे और हर मील पर।"

"अच्छा चार आने की पकौडी तो ले आओ। बडी भूख लगी है।"

लछमियाँ पकौडी ले आया एक पत्ते मे। हमदम ने पत्ता उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—"तुम भी तो लो।"

लछमियाँ सोचने लगा—'हमदम यह क्या कह रहा है मुझसे।' उसने इधर-उधर देखा।

हमदम ने पकौडी खाना आरम्भ किया। फिर उसकी ओर पत्ता बढाकर कहा—"अरे, एक तो खा लो, बडी बढिया है।"

लछमियाँ मन मे कहने लगा—"खाने-पीने मे कौन परहेज है आगे बढ़ने मे नगर की ओर। यह तो सब गाँव के पाखंड है, वही चल भी सकते है। जब हमदम को उस्ताद मान लिया तो फिर उसके साथ कोई भेद रखना बुद्धिमानी न होगी। जब उसकी मोटर मे नौकरी कर लूँगा तो फिर हम एक है। हमदम बहुत अच्छा आदमी है। मन का कितना साफ है, कपडे बढिया नहीं पहनता तो क्या हुआ ? सबसे 'जय हिन्द' कहता है। माता इसकी पहाड ही की है। भुमिया के मन्दिर को भी हाथ जोडता है। बाबाजी, जो बड़े भारी ज्ञानी-ध्यानी बनते हैं, उनके अखाडे में भी जाकर कभी-कभी गाँजा पी आता है।"

"अकेले खाते बुरा लग रहा है; लो एक तो ले लो। जूठी थोड़े ही हैं।"

लछमियाँ ने अपने मन मे समझा, हमदम उसकी परीक्षा ले रहा है। उसने इधर-उधर देखा, कोई उसे नहीं देख रहा था। उसने पास हो जाने का निश्चय किया। उसने एक पकौडी उठा ली।

मोटर की ओट से मानो हवा में से प्रकट होकर कोढी लाठी टेकता हुआ उनके निकट आ गया ।

लछमियाँ का हाथ कुछ रुका, उसने मनुष्य की घृणा पर विजय पाई और उस कोढी की दृष्टि की उपेक्षा करके पकौडी अपने मुँह मे रख ली। पकौडी चबाते हुए वह बोला—"यहाँ कहाँ बढा आ रहा है, यहाँ तुझे पैसे देने वाला कोई नहीं है ।"

कोढी ने हमदम की ओर इशारा करके कहा—"जय हो दाता की !"

हमदम भेंट होने पर अवश्य ही उस कोढ़ी को कुछ-न-कुछ दे ही देता था। जेब मे पैसा ही न हो तो उस विवशता की बात दूसरी है। पकौडी खाते-खाते हमदम ने उसे रुक जाने का संकेत किया ।

"हमदम भाई, मेरी बैलगाड़ी का यही कोढ़ी पहला दुश्मन है ।"

"तुम खुद अपनी बैलगाडी के दुश्मन हो ।"

"मै कैसे हूँ ?"

"तुम शहर के भीतर चाहते हो घुसना, लेकिन हाथो में चाबुक और रास पकडना चाहते हो ।" कहते हुए हमदम ने पत्ता खाली करके उससे अपनी उँगली पोछ ली और जेब से एक इकन्नी निकालकर कोढ़ी के आँचल मे डाल दी ।

कोढी फिर भी खडा ही रहा ।

"जाता क्यो नहीं अब ? मैने दिया है तुझे कभी कोई पैसा, जो आज दूँगा ।"

कोढी ने हमदम से कहा—"इन्हें समझा दो ।" उसे हमदम की भलमनसाहत का विश्वास था, उसकी सहायता का भरोसा था ।

हमदम ने लछमियाँ की ओर संशय की हँसी हँसते हुए देखा और पूछा—"क्या समझा दूँ ?"

"धर्मशाला के पिछवाडे पडा हूँ। यह नहीं रहने दे रहे हैं, मेरे पीछे पड गए हैं। फिर मैं कहाँ जाऊँ ?"

"क्यो लछमियाँ, तेरे मन मे दया नहीं है ?"

"फिर मेरी गाडी के लिए जगह ?"

"आग लगाकर ताप ले उससे। कह तो चुका हूँ।"

आशान्वित होकर लछमियाँ ने हमदम की ओर देखा। उसने अपने मन में समझ लिया, वह परीक्षा मे पास हो चुका है।

"खबरदार! अगर कभी इसको छेडा तो। भाग्य का मारा हुआ यह बेचारा, तुम्हे दया नहीं आती। अब कुछ न कहना कभी इससे।"

"नहीं कहूँगा।"

"कान पकडो।"

लछमियाँ ने कान पकडे और आश्वासन पाकर 'जय' कहता हुआ कोढ़ी आगे को बढ गया।

उसके जाने पर लछमियाँ ने पूछा—"हमदम उस्ताद! तुम भी भाग्य को मानते हो ?"

"कौन नही मानता ? इन भयानक पहाडी मार्गों में जहाँ मोटर के पैर के नीचे भयानक खड्ड हैं और सिर के ऊपर खिसक पडने वाले भारी पर्वत! शाम को जब उनसे बच निकलकर धरती पर सिर रखता हूँ, तो भाग्य को मानना ही पडता है। तुम नहीं मानते भाग्य को क्या ?"

"नहीं।"

"अच्छा मान लो। मै तुम्हारा उस्ताद हूं।"

"भाग्य को मान लूँ ?" लछमियाँ आनाकानी करने लगा।

"हाँ मान लो। तुम्हारा भाग्य जाग उठा। लो ये औजार बक्स मे रखो। मोटर के नीचे से गद्दा उठाकर सीट मे जमाओ। वह झाडन लेकर गद्दी पोछ दो और भौंपू बजाकर यात्रियों को इकट्ठा करो। चलें बहुत देर हो गई।" हमदम ने कहा।

लछमियाँ कुछ क्षण भौचक्का-सा खडा रह गया! उसने हमदम के हाथ से हथौड़ा-रेंच ले लिए।

"हाँ, मैं तुम्हें अपने साथ इस गाड़ी में क्लीनर रखने को राजी हूँ।"

"कब से?"

"इसी घडी से। तुम्हारे हाथो में यह तुम्हारी नौकरी का पहला काम है।"

लछमियाँ हर्ष में डूब गया। उसने दौडकर औजार बक्स मे रख दिये। गद्दा झाडकर सीट पर फिट कर दिया और कूदकर ड्राइवर की सीट में बैठ गया। उसने बडे ठाठ से चक्के पर हाथ रक्खा और बड़ी शान से भौंपू बजाने लगा। वह मन मे सोचता जा रहा था—"हे भगवान्! तेरी लीला बडी विचित्र है। अभी जरा देर पहले एक बैलगाडी चलाना भी जिसके लिए पर्वत हो रहा था, उसे तुमने एकदम मोटर के चक्के पर बिठा दिया। हमदम मेरा दोस्त और अब उस्ताद—बडा बढिया आदमी है। यह कोढी, जिसे मैं अब तक अपनी बढती का शत्रु मान रहा था—यही मेरी उन्नति का कारण हो गया। कोढी को बचाने के लिए ही हमदम ने मुझे वहाँ से खिसका कर गाडी मे बुला लिया।" उसने फिर भौंपू बजाया—"भौं! भौं!" वह फिर मन मे कहने लगा—"बढ चलूँगा, अब निश्चय बढ चलूँगा। पिता को भी मालूम हो जायगा और पंडितजी भी सुन लेंगे बढने वाले इस तरह बढ़ते हैं।"

"हो गया रे अब, तूने तो झड़ी ही बाँध दी भौपू की। उठ उधर से।" हमदम की वाणी में शासन था।

लछमियाँ चुपचाप उतर गया। उस शासन के बन्धन पर उसने गौरव के साथ अपना माथा नवाया।

"लो, यह टीन लेकर पानी ले आओ। एंजिन मे भर लो।" हमदम ने अपनी सीट पर बैठते हुए कहा।

सात

. . . .

मोटर चली। और जब लछमियाँ ने हैंडल दिया, तब चली। "घर्र्र घर्र्र" होने लगी। लछमियाँ ने हमदम की सीट के नीचे हैंडल रख दिया। ड्राइवर की सीट का द्वार बन्द करके वह मोटर के पिछले मार्ग से उसकी अन्तिम सीट की ओर बढ़ा।

"हाथ हटा लो।" कहकर उसने एक यात्री का हाथ मोटर के पिछले द्वार पर से भीतर की ओर कर दिया और खट से द्वार बन्द कर उसकी चिटकनी चढ़ा दी।

हमदम ने सिगरेट का शेष टुकड़ा फेंककर पेट्रोल की चाबी खोल दी। ऐक्सीलरेटर पर पैर और चक्के पर दोनों हाथ रखकर पूछा—"बैठ गए सब ?"

"हाँ उस्ताद, सब बैठ गए, चलो।" लछमियाँ ने पास के यात्री को कुछ दबाकर अपनी सीट पर जमते हुए कहा।

मोटर आगे बढ़ चली। लछमियाँ ने पहले भी कई बार मोटरों के हैंडल घुमाए थे, पर वह सब बेगार थी। मोटर चल पड़ती थी, परन्तु वह जहाँ का-तहाँ ही पड़ा रह जाता था। आज वह हैंडल देकर स्वयं भी गाडी में बैठा और जब उसने "चलो" कहा, तब मोटर चली।

मोटर में लछमियाँ कई बार बैठा था। पर सदैव ही पैसे देकर या मुर्गी बनकर कहीं ओने-कोने में लुका-छिपा और झिझका-सिमटा। आज

वह मोटर मे अधिकार पाकर बैठा है। उसके आनन्द की सीमा न थी, उसके हर्ष का ठिकाना न था।

मोटर धीरे-धीरे चली। वही कोढी हाथ बढाकर मार्ग मे खडा था। लछमियाँ ने जेब में हाथ डालकर देखा। कोढी को दो-चार पैसे देकर उसका सद्भाव पा लेने की उसकी प्रबल इच्छा हो गई थी, पर उसमे कुछ भी नहीं था। उसने जल्दी से बीडी का बंडल निकाला और उसमें से आधी से अधिक बीडियाँ निकालकर कोढी के सिर पर बरसा दीं।

धीरे-धीरे मोटर की गति बढ़ चली। पहाडों के घूमो पर नाचती हुई, उनकी ऊँचाइयो पर चढती-उतरती मोटर आगे बढ चली। लछमियाँ मन में सोचने लगा—"आज दो साल बाद सचमुच मैं बढ़ चला। बढ ही नही रहा हूँ, अब तो तनखा भी मिलेगी। हमदम बड़ा बढिया आदमी है। मुझे उसके न्याय का विश्वास है। मैं क्यो उससे तनखा की उलझन पैदा करता। जो भी दिला देगा, मुझे स्वीकार होगा और वह उचित ही दिलायगा।"

गाडी घरघराती हुई चली। लछमियाँ यात्रियो की चहल-पहल के बीच मे सोचने लगा—"कहाँ वह पंडितजी की बनाई दीवार पर मोटर की तसवीर, कहाँ यह सड़क पर चलने वाली साक्षात् हमदम की मोटर। उसे पंडितजी का वह गीत याद आ गया। वह गुनगुनाने लगा—

"बढ चलो, बढ़े चलो, नव जवान बढ चलो।
है जगत नया, नवीन आसमान बढ चलो।"

एक सहयात्री कुली ने, जो उसकी बगल मे बैठा था, पूछा—"कहाँ जाओगे, कहाँ से आ रहे हो?"

लछमियाँ ने घूरकर उसकी ओर देखा—"बडे मूर्ख हो जी, इतना भी नहीं पहचान सके अभी तक। हम कहाँ से आते-जाते हैं। इसी गाडी मे नौकर हूँ, क्लीनर हूँ।" लछमियाँ ऐसे जमकर बैठ गया मानो कई साल का पुराना नौकर है। उसने उपेक्षा से उस कुली की ओर

से मुँह फिरा लिया। कुली को फिर और कुछ बात करने का साहस नहीं हुआ।

क्लीनरी में और किस पूर्वानुभव की आवश्यकता थी। मोटर का एक कुली ही तो हुआ वह, ड्राइवर के पुकारने का एक सहारा-मात्र। यात्रियो का माल मोटर पर रख दिया, उतार दिया। मोटर मे पानी-पेट्रौल भर दिया, झाड़-पोछ कर दी। हैंडल घुमा दिया, पम्प कर दिया, बस यही तो। तिपनियाँ में लछमियाँ इन सब कामो मे पारंगत हो गया था।

दूसरे दिन सन्ध्या-समय अपने तीस घंटो की नौकरी सफलता के साथ बजाकर लछमियाँ मोटर के साथ फिर तिपनियाँ मे आ पहुँचा। गाडी फिर मार्ग मे बिगड गई।

"अब आगे जाने का समय नही। रात का पडाव यही होगा क्लीनर साहब!"—हमदम ने कहा।

"मै तो रास्ते-भर यही मनाता आ रहा था।"

"क्यो?"

"धर्मशाला मे मेरे कम्बल, लोटा और कपडे पडे है। कल आपने जाने ही नही दिया था। अब ले आता हूँ। छुट्टी दीजिए।"

अँधेरा होने से पहले ही आ जाना।"

"घर भी तो जाऊँगा। माँ-बाप को भी तो अपनी नौकरी का समाचार दे देने चाहिए न! देर हो गई तो फिर प्रभात समय छः बजे से पहले आजाऊँगा।"

"चाय तो पी जा!" हमदम ने कहा।

लछमियाँ ने एक न सुनी। वह बिना कुछ कहे-सुने गाडी सडक पर छोडकर धर्मशाला की पगडंडी पर उतर गया।

सीधा सबसे पहले वह कोढी के निकट गया। ऐसी भावुकता से भरा वह कोढी के पास पहले कभी नहीं गया था।

अपनी झोंपड़ी के बाहर आग जलाकर कोढ़ी कुछ गुनगुना रहा था।

लछमियाँ के बूटों की खट्-खट् सुनकर उसने अपनी गुन्जार तोड़ दी।

"क्यों दोस्त, तुम भी गाना गाते हो? कौन-सा गीत गा रहे थे? सिनेमा का क्या?

"सिनेमा का गीत क्या गाऊँगा मै! मै गा रहा था मौत का गाना।"

"वह भी क्या गाने से रीझती है! लेकिन मेरा काम सध गया। प्रत्येक अँधेरे मे सितारा चमकता है। मै तुम्हे अपना दुश्मन समझता रहा था, अन्त मे मेरे काम तुम्हीं आए।"

कोढ़ी ने किसी गौरव-प्राप्ति का भाव मुख मे नहीं उपजाया, वरन् कुछ संशय में भरकर ही उसने कहा—"लेकिन एक बात ठीक नहीं।"

"कहता क्यो नही? रुक क्यो गया? कौन-सी बात ठीक नही है?"

"तुम्हारा और हमदम का साथ!"

"मेरा और हमदम का साथ!" लछमियाँ क्रोध मे भर गया—"हाँ मेरा-हमदम का साथ! मै उसके साथ उठता-बैठता ही नहीं खाता-पीता भी हूँ। क्या बुराई हैं उसमे? तेरे भीतर से हिन्दू-समाज के कोढ को बोलता हुआ मैं पा रहा हूँ? अंग सडकर तेरे कीडे पड़े हैं। सारा जगत् तेरी छाया से बचता है। तेरे सगे-सम्बन्धियो ने अपने नाते काट लिये। सारी सृष्टि घृणा करती है तुझसे और तुझे मेरा और हमदम का साथ सहन नही होता।"

"मेरा मतलब है।"

"चुप रह तेरा कोई मतलब नहीं है। मैं सब जानता हूँ। हमदम मेरा भाई है, उसने भाई से भी बढकर प्रेम दिखाया है। और तेरे ऊपर क्या कम कृपा की है उसने? यह हमदम की ही दया है कि मै अब इस धर्मशाला से तुम्हे निकलवाने के लिए यहाँ नही रहूँगा। तू मौज से बेखटके यहाँ रह।"

"क्यो, तुम कहाँ जाओगे?"

"हमदम के साथ। यदि हमदम के साथ का विरोध करेगा तो

फिर यहीं आकर इस बार तेरा तवा-तसला फेंककर ही मानूँगा। मैं उनकी गाडी का क्लीनर हो गया हूँ।"

"मुझे क्या मालूम था। गलती हुई मुझसे, माफ करना।"

"अब तू बेखटके पडा रह। और यह हमदम की ही कृपा है कि उसने तेरा काँटा उखाड दिया।"—कहता हुआ लछमियाँ बाबाजी के आसन की ओर बढा।

वहाँ पर सन्ध्या के रंग जमे हुए थे। भक्त-मंडली एकत्रित थी। धुँआ उड़ रहा था, धूनी सुलग रही थी और चाय उबल रही थी।

बाबा बोल उठे—"आओ जो भगत, जयशंकर! कल तो तुम्हारे दर्शन ही दुर्लभ हो गए। क्या गाँव चले गए थे ."

"नहीं महाराज, चला गया था नौकरी पर।"

"कैसी नौकरी ?" बाबाजी ने लछमियाँ के हिस्से का एक गिलास पानी की पतीली मे और छोडते हुए पूछा—"कहाँ हो गए नौकर ?"

"मोटर मे, हमदम की मोटर मे! क्लीनर!" संघ मे प्रविष्ट होते हुए लछमियाँ ने बडे उल्लास के साथ कहा—"अब बढ चला हूँ महाराज, असली बढ़ती! लम्बाई मे नहीं बढ़ रहा हूँ, ऊपर आकाश की ओर भी।"

एक भगत चिलम का लम्बा धुँआ छोडते-छोडते चौंका—"ऊपर आकाश की ओर भी ?"

लछमियाँ ने उत्तर दिया—"हाँ पहले भूमि पर बैठकर खाना खाता था, अब ऊपर हवा में मेज पर खाने लगा। जब और भी आगे बढ जाऊँगा तो हवाई जहाज पर!"

भगत ने दूसरा दम खींचकर कहा—"वाह! आदमी उन्नति करे तो ऐसी। कल तक मजदूर था, आज क्लीनर हो गया, कल को ड्राइवर हो जायगा और फिर परसों को मोटर का मालिक! वाह लछमियाँ शाबाश! लो दम लगा लो।"

लछमियाँ ने कृतज्ञता दिखाई और चिलम लेकर दम लगाने लगा।

बाबाजी बोले—"लालच के पेड मे केवल पत्ते-ही-पत्ते ! फल तो सबसे मीठा सन्तोष के ही पेड मे लगता है ।"

"चारों ओर से पूरी-प्रसाद, फल-फूल आपके पास अपने-आप आकर इकट्ठा हो जाता है, क्यो न आपको संतोष हो। दाम न मजदूरी, कुछ भी देनी पडती तो कितनी बीसी का सैकडा होता है, यह आपको पता चल जाता !" लछमियाँ ने उत्तर दिया ।

बाबा हँसने लगे—"देखो भगत, ज्ञान बहुत बारीक वस्तु नही है । सृष्टि का एक नियम है, उसे समझना कठिन नहीं है, प्रत्येक समझता है।"

"क्या है महाराज ! वह नियम ?" एक भक्त ने जिज्ञासा की ।

"उस नियम को अपने स्वभाव मे समा लेने की ही कठिनता है। स्वभाव क्या है, कुछ दिन का अभ्यास ही तो ।"

"लेकिन बात तो रह गई ।" वही भक्त फिर बोल उठा—"नियम तो बताइए ।"

"हाँ वह नियम है, जब हम किसी वस्तु को पकडने के लिए बढते हैं, तो वह हमसे भागती है। यदि हम उससे खिच जायं तो फिर वह हमे पकडने को दौडती है ।"

"वाह ! गुरु महाराज ! क्या ज्ञान की पोटली खोल दी ! साधु-संत कभी-कभी मौज मे आकर ही तो गुदडी में से लाल दिखा देते हैं ।" दूसरा भक्त बोला ।

"कौन नहीं जानता इस बात को कि जब हम छाया को पकडने जाते हैं, तो वह हमसे भाग जाती है और जब हम उससे पीछा छुडाते है तो वह हमारा ही अनुकरण करने लगती है ।" बाबाजी बोले ।

"आगे बढकर उसे पकडें तो भी कोई हानि नही, उससे भाग जायँ तो भी हर्ज नहीं। हम उसे पकडने दौडें और वह हम पर झपटे, तो बस एक्सीडेंट तभी होते हैं ।" लछमियाँ बोल उठा ।

सब हँसने लगे ।

"मन मे किसी इच्छा का उपजाना ही हमारे दुःखो का आरम्भ है। इच्छा ही लालच है।"

"कदापि नहीं महाराज!" लछमियाँ ने उत्तेजना से उठकर कहा—"इच्छा ही तो शक्ति है। वही तो आगे बढाने का साधन है। वही तो एंजिन है।"

"आगे बढना पीछे हटना है।" बाबाजी ने प्रत्युत्तर मे कहा।

"और पीछे हटना क्या आगे बढना है ?"

"निःसंदेह, ज्ञान की दृष्टि यही कहती है।" सौम्यतापूर्वक बाबाजी बोले।

"तो आपका अर्थ यही हुआ, लछमियाँ पीछे हट रहा है, क्योंकि वह नगर की ओर जा रहा है और गाँव की ओर को धावमान पंडितजी आगे बढ़ रहे है!"

"कौन पंडितजी ?" एक भगत ने पूछा।

"होगे कोई।" दूसरे ने उसको बात काट दी।

"आप कहाँ पर है बाबाजी ?" लछमियाँ ने पूछा—"आगे बढ़ रहे है, या पीछे हट रहे है ?"

"क्या बताऊँ लछम ! मैं कुछ भी नहीं हूँ।" बाबाजी को कुछ याद आई और वह जपने लगे—"सीताराम, सीताराम !"

"इस रटन से कोई ताला नही खुल सकता।" लछमियाँ बोला—"बताइए, कहाँ पर है आप ?"

एक भगत ने कहा—"न आगे बढ़ते हैं और न पीछे मुडते हैं। एक आसन मे जमे हुए है।"

"क्या खाक जमे हुए हैं ? लछमियाँ ने तो इनका आसन हिला दिया था। पर अब बात ही कुछ दूसरी पैदा हो गई है।"

"जमा हुआ तो नहीं हूँ, अटका हुआ हूँ भाई !" बाबाजी बोले।

"तो फिर बढ़ने वालो का तिरस्कार न कीजिए। अटके रहिए यहीं पर बेखटके। लछमियाँ अब आपको यहाँ से आगे बढ़ने या पीछे हटने

किसी गति पर विवश न करेगा।" लछमियाँ अभी बैठा न था।

"हम तिनके की भाँति इस लोक व्यापी महाकाल के महासागर में हैं। हे राम! हमें पार करो।"

"राम भी तो वन मे पिछड़कर ही आगे बढे।" एक भगत ने कहा।

"पार जाने के लिए राम को भी निषाद की नाव का आसरा देखना पड़ा।" लछमियाँ बोला।

"चुप रे लछमियाँ, भगवान् के विरुद्ध बोलता है, सत्संग मे।"

"क्या विरुद्ध बोलता हूँ? इच्छा की क्यों बुराई करते है बाबाजी! जिस पीछे हटने को आप आगे बढ़ना कहते हैं, उसके लिए भी एक इच्छा ही आप पैदा करते है। यहाँ पर जो आप बैठे है, क्या वह किसी इच्छा का ही परिणाम नही है?"

बाबाजी ने हँसकर कहा—"तुम इस आसन पर बैठ जाने को तैयार हो? मै इसे तुम्हारे लिए खाली किये देता हूँ।"

"भेंट की धारा इसी प्रकार बहती रहेगी? इस बात को यदि आप पक्का कर दें?" लछमियाँ बोला।

"यह सब मेरे लिए नहीं आती। अगर इसे बाँट देने के विचार से बैठोगे तो आयगी, इसे निश्चित समझो। बैठो, उत्तेजना में न आओ। चाय पियो।"

"बस अब आप ही बैठिए। मैं चला।" लछमियाँ जाने लगा।

एक भक्त ने उसे रोक लिया।

"नहीं, मुझे अपने गाँव तक जाना है। शाम हो चली, रात हो जायगी। गाडी मे कोई नहीं है। माल लदा है। रात ही मे लौटकर मुझे आ जाना है। नई नौकरी हुई।" लछमियाँ ने हाथ छुडा लिया।

"फिर चाय बन जाने मे देर ही क्या है।" बाबाजी ने आग्रह किया।

"प्रसाद का तिरस्कार नहीं किया जाता।" भक्त ने इस बार लछमियाँ का हाथ पकड़कर उसे फिर बिठा ही दिया।

चाय का सबसे पहला गिलास बनाकर लछमियाँ को ही समर्पित किया गया ।

लछमियाँ ने ज्यो ही मुँह मे चाय की पहली घूँट ली, त्योही मुँह बनाकर वह उठ खडा हुआ, 'पच्च' से थूक दिया । और सारा गिलास उलट, धूनी मे पटककर अपने गाँव को चल दिया ।

सारी मंडली लछमियाँ की इस गति-विधि पर चकराकर रह गई । चाय बनाने वाला भगत बोला—"कैसी भौंहो के ऊपर सरकती जा रही हैं इसकी आँखें? अवसर देखता है, न समाज । जंगली और अशिष्ट ! महाराज क्या कहेंगे, इसकी भी कोई परवा नहीं ।"

महाराज का नम्बर चाय पीने का आया । उन्होंने भी चाय की घूँट मुँह मे लेते ही फेंक दी—"राम ! राम ! अरे भगत, तुमने यह क्या कर दिया ?"

हाथ जोड़कर भगत बोला—"क्या हुआ महाराज !"

तीसरा गिलास जिसे मिला था उसने अपनी अधीरता को विराम देकर बाबाजी की ओर देखा ।

चौथा गिलास बाँटने वाले के हाथ ही मे रह गया !

बाबाजी ने भेद खोला—"एक पुडिया में पिसा हुआ नमक रखा था । भगत, वह सब तुमने चाय में उलट दिया ।"

लछमियाँ खटाखट उतरता हुआ चला जा रहा था अपने गाँव के मार्ग मे । अभी तक उसका थूकना जारी ही था । कोट की चारों जेबों में हाथ डालकर उसने टटोला । लौंग का फूल तो नही मिला । एक मूँगफली हाथ लग गई । छीलकर मूँगफली के दाने मुँह में डाले । वह भी सडी निकली । नए सिरे से फिर थूकना आरम्भ हुआ ।

वह बडबडाता हुआ जाने लगा—"इतनी चीज-वस्तु आती हैं बाबाजी के यहाँ, पर इन्तजाम नहीं है कुछ भी । सब-के-सब मालिक ही बन जाते हैं वहाँ ।"

गाँव के आधे रास्ते पर उसे घोड़े पर चढ़े आते हुए पटवारी जी

मिले। लछमियाँ थूकना बन्द कर चुका था, पर उसने फिर चाय और मूँगफली की स्मृति जगाई और 'खाक्' कर मार्ग मे एक ओर थूक दिया।

पटवारीजी ने घोडे की रास मार्ग के एक ओर खींच ली और लछमियाँ के लिए रास्ता बना दिया।

लछमियाँ ने जाते हुए उनको घूरकर देखा।

पटवारीजी बोले—"जय हिन्द !"

कटु मुखाकृति से लछमियाँ ने उत्तर दिया--"जय हिन्द !"

"कहाँ से आ रहे हो, आज बहुत दिन मे दिखाई दिए ?"

लछमियाँ एक क्षण के लिए भी नहीं रुका, जाते-जाते ही उसने उत्तर दिया—"नौकरी पर से आ रहा हूँ, और कहाँ से आ रहा हूँ ?"

पटवारीजी ने चाबुक लगाकर घोड़ा बढ़ा दिया।

लछमियाँ मन मे कहने लगा—"यह मुझे नथ की चोरी लगाने-वाला, आज मुझसे 'जय हिन्द' कहता है। यदि कुछ भी 'ची-चपड' करता तो मै घोडे से इसकी टाँग खींच नीचे घसीट देता। मैने थूक दिया उस पर !"

पन्द्रह मिनट बाद लछमियाँ अपने गाँव मे पहुँच गया। उसके पिताजी ने आँगन की दीवार मे बैठकर तमाखू पीते-पीते कहा—"लछ-मियाँ की माँ, पूरी-प्रसाद बना लेना। वह आ ही गया आज, जान पड़ता है उसकी जेबें खाली हो गईं। वह बड़े ठाठ से हाथ थिरकाते हुए आ रहा है, लाट साहब के बेटे की भाँति।"

पत्नी दौडती हुई भीतर से आँगन मे चली आई—"तुम्हें सौगन्ध है मेरी जो तुमने उससे आधी बात भी कही। मैं जरूर उसे आज पूरी-हलवा ही खिलाऊँगी। देखो न पधानजी की गृहिणी की नथ घर ही मे मिल गई। मेरा बेटा लछमियाँ, यह स्कूल जाने से ही सुधरा। पढ़ा-लिखा न हो इसने वहाँ, गुना अवश्य है। मै कहती न थी मेरा लड़का चोर नहीं हो सकता।"

"यही सुनकर वह अपने उजलेपन की साक्षी देने चला आया है अपना क्रोध भुलाकर। उसकी चाल से यह प्रकट हो रहा है मानो वह बडी भारी लडाई जीतकर आया है।"

"मै पधानजी के घर उसे ले जाकर अभी अपने बेटे का उजला मुख दिखाऊँगी।"

पत्नी के वाक्य से प्रभावित होकर पतिदेवता भी बेटे का स्वागत करने के लिए खडे हो गए।

लछमियाँ ने आँगन मे प्रवेश करके माता-पिता को अभिवादन किया।

"शाबाश बेटा, जीते रहो।"

लछमियाँ ने उस अतिरिक्त शाबाशी का अर्थ लगाया और पूछा—"आपसे किसने कहा ?"

"पधान जी स्वयं हो दौडे-दौडे मेरे पास आये। बडे भले आदमी हैं बिचारे।"

"वह भी प्रसन्न हो गए ?"

"बात ही ऐसी है।"

"और तुम ?"

"हम क्यों न होंगे बेटा ? तुमने हमारा मुख उजला किया।"

"मैं क्लीनर जो हो गया ? क्लीनर के माने साफ करने वाला।"

पिता के मुख मे अबूझ पहेली-सी चमकने लगी—"कैसा क्लीनर ?"

"मोटर का, और कैसा ? यह सब हमदम की कृपा है। न कोढ़ी धर्मशाला मे अड़ा होता, न हमदम मोटर के चक्के पर; और न आता इस लछमियाँ के हाथ में हैंडल ! "खट्ट, खट्ट, खट्ट ! घर्र्र्र्र् ! घरर ? घर्रघर्र ! पौं ! पौ ! पिताजी—भौं ! भौं !"

"इसके क्या माने हुए ?"

"इसके माने हुए लछमियाँ आगे बढ़ गया। आगे बढ़ने के माने उसे नौकरी मिल गई और नौकरी मिल जाने के माने उसे सब-कुछ प्राप्त हो गया। अब वह न रूखी रोटी नमक के साथ खायगा और

न गुड़ की डली हाथ में लेकर फीकी चाय पियेगा।"

"मैं तो नथ मिल जाने की प्रसन्नता की बात कह रहा था। नथ मिल गई, पधानजी की श्रीमती की नथ मिल गई।"

"कहाँ मिली ?"

"घर के भीतर ही। जाने किसने गड़बड़ा दी और फिर मिल गई! तुम्हें सानने लगे थे, देखो न!"

"मेरे नौकर हो जाने से तुम्हें सन्तोष हुआ ?"

"नहीं बेटा!" पिता ने उदास मुख करके कहा—"नहीं बेटा, मोटर की नौकरी! हर बखत जोखम, एक-एक चाप पर भय!"

"ऐसा सब डरपोक सोचा करते है, जो संसार के संघर्ष में भाग नहीं ले सकते। मौत कहाॅ नहीं है? मनुष्य मृत्यु के सहारे ही तो जीवित है। अजी पिताजी, आप तो बैलों को हाँककर दिन पूरे करते हैं, आप चक्के की महिमा क्या जानें!"

माता अब तक चुपचाप बेटे की बातें सुन रही थी। बेटे की नौकरी पर वह फूली न समाई—"चलो बेटा, भीतर। तुम्हें भूख लगी होगी।"

"हाँ तुम कुछ प्रसाद भून लो। मैं अभी अपने निर्दोष बेटे को पधानजी को दिखा लाता हूँ। चलो बेटा!"

पत्नी भीतर चली—"शीघ्र आना, देर न करना।"

पिता पुत्र को लेकर पधानजी के यहाँ को चले। पधानजी की पत्नी बैठक में कड़ुए तेल का प्रदीप्त दीपक आधार में रखकर भीतर को जा रही थीं। पधानजी संध्या-वंदन के लिए कपड़े खोल रहे थे।

पिता ने लछमियाॅ को मार्ग मे सीख दी—"बेटा, तुम उनको कभी हाथ नही जोड़ते। बिगड़ा क्या है, बड़े आदमी है, पूजनीय हैं।"

"सब बराबर हैं। मनुष्य की पूजा मनुष्य के द्वारा? नहीं, हो नहीं सकती। लछमियाँ ऐसे पाखंड नहीं पालता।"

"हमारे मालिक हैं।"

"हम क्यों नहीं उनके मालिक हैं? हम धरतीमाता के श्रेष्ठ वरदान लेकर उनके खत्तों में जमा करते हैं।"

"बिगड़ क्या जायगा तुम्हारा उनसे पायलागूँ कहने में? आशीर्वाद देंगे, पुण्यात्मा हैं।"

"हो क्या जायगा उस आशीर्वाद से? न ओढ़ने का, न बिछाने का? न भूख ही उससे जा सकती और न प्यास ही के मिटने का भरोसा है।"

"एक बात परम्परा से चली आई है। मेरे पिता ने उनके पैर छुए और मैं भी सदैव उनके पैर छूता आया हूँ।"

"तोड़ दो इस परम्परा को, यह सिक्का घिस गया। इसके अंक मिट गए, यह अब नहीं चल सकता। आशीर्वाद एक कोरी गप है। इतने वर्षों से उनके आशीर्वाद जमा करते जा रहे हो। उनसे क्या फल मिला है? वही टूटा तवा और फूटा तसला तुम्हारी संपत्ति है। ओढ़ने को फटा गूदड़ और बिछाने को पुआल! आपकी गुलामी अब आप ही तक समाप्त हो गई। आपकी सन्तान अब उसे जारी नहीं रख सकती।"

"गुलामी कैसी? यह तो आश्रय है, सहारा है।"

"यह नंगा ही रख देने वाला कैसा आश्रय है, भूखा ही सुला देने वाला कैसा सहारा है। सी-सीकर कब तक लज्जा ढकेगी और बीन-बीनकर पतीली कब तक भरेगी!"

"तुम यह फैशन की बात कहने लगे। उससे क्या होता है? रोटी सिकी होनी चाहिए, मशीन की कटी होने से क्या होता है। किसान की सम्पत्ति संतोष है।"

"इसी शब्द से उसे मूर्ख बना दिया गया है। यह पौरुष-हीन व्यक्ति का उन्माद है। तुम्हें सन्तोष का उपदेश देने वाले क्यों नहीं अपनी सम्पत्ति बराबर बाँट देते?"

"भाग्य सहायक न रहे तो धनी व्यक्ति को मिटते क्या देर लगती है और भाग्य सहायक हुआ तो भिखारी भी चुटकियों में दाता बन जाता है।"

"भाग्य, यह भी यद्यपि एक बनाया हुआ ही शब्द है, तथापि मैं इसे मान लेता हूँ। तुम भी यह क्यों नहीं समझते लछमियाँ का भाग्य जाग उठा है और वह निरन्तर बढ ही रहा है। चलो, मैं हाथ भी जोड दूँगा पधानजी के सामने, परन्तु ध्वनि मेरी ही रहेगी।"

एक घास के स्तूप के पास पिता-पुत्र का यह संवाद हो रहा था। पुत्र का निर्णय सुनकर पिता ने प्रसन्न होकर कहा—"क्या ध्वनि है तुम्हारी ?"

"जयहिंद ! पायलागन, आशीर्वाद ! न कोई दाता न कोई भिखारी। जयहिंद ! हम सब आगे बढ रहे हैं। सब भोक्ता हैं। आधार की जय होने पर ही हम सबकी जय है। आप भी 'जयहिंद' ही कहें।"

"जबान जब पलटे तब न। पुरानी आदत की लाचारी भी कोई चीज है बेटा। तुम्हे तो यह पंडितजी रटा गए। नया खून ठहरा, जल्दी याद हो गया !" पिता ने पधानजी की सीढ़ियों का अतिक्रमण करते हुए कहा—"चलो, तुम आगे चलो।"

लछमियाँ ने बैठक में प्रवेश किया। पधानजी रक्तांबर धारण कर रहे थे।

लछमियाँ ने जाते ही उनके सिर मे लाठी-सी बरसाई—"जयहिंद !"

"जीते रहो लछमियाँ। आओ बैठो। पिता के साथ आये हो बैठो, बैठो।" पधानजी ने स्वयं ऊन के तीन चक्रों से सुशोभित तिब्बती आसन पर बैठते हुए कहा।

लछमियाँ का पिता नीचे के भाग मे दरी पर बैठ गया और पुत्र से भी बैठ जाने का आग्रह करने लगा।

लेकिन लछमियाँ न बैठा—"ठीक है, दिन-भर बैठे-ही-बैठे की नौकरी है।"

"नौकर हो गया लछमियाँ तू।" पधानजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—"बहुत अच्छी बात है !"

लछमियाँ पधानजी की प्रसन्नता के भीतर धँसकर उसकी असलियत टटोलने लगा।

"लेकिन मालिक, यह मोटर की क्लीनरी मे भरती हुआ है। कोई खटका तो नहीं है?"

पधानजी हँसे—"भगवान् रक्षक हैं। अच्छी तरह काम करेगा, तो किसी दिन ड्राइवर हो जायगा।"

पधानजी के आशीर्वाद में किसी अर्थ को न पा सकने वाला लछमियाँ उनकी इस कामना पर रीझ उठा। उसके पिता इतनी दूर तक नहीं देख सके थे। उसका सारा गर्व टूट गया और वह पिता के समीप दरी पर ही बैठ गया।

पधानजी की गृहिणी ने भीतर से झाँककर देखा, बातें करने वाला लछमियाँ था। वह मन मे विचार करने लगीं—"झूठे ही इस बिचारे को भी हमने चोर समझा।" वह तीव्र गति से रसोईघर में चली गईं। पतीली में कुछ चाय बची थी, जल्दी से गरम करने चूल्हे पर रख दी।

"पंखी ओढ़ लीजिए महाराज!" पिता ने सलाह दी।

पधानजी पंखी उठाते हुए बोले—"लछमियाँ, नथ मिल गई तुमने सुना होगा?"

"हाँ सुन चुका हूँ।" लछमियाँ ने कुछ कर्कश होकर कहा—"आपके संशय की अनेक आँखें लछमियाँ को तीर-सा बींधने लगी थीं गाँव मे।"

"नहीं, नहीं बेटा, तुम अपने पिता से पूछ सकते हो। मेरे मन में ऐसा कोई मैल नहीं जमा था।"

लछमियाँ हँसकर बोला—"असल में मेरे तिपनियाँ को निकल चलने का कारण यह नथ की चोरी ही थी।"

"अच्छा हुआ, तुम्हे नौकरी मिल गई। गुड़-तम्बाकू हमारे लिए भी ला दिया करोगे?"

पिता ने बेटे को उत्तर देने में कुछ हिचकता देखकर जल्दी से कहा—"क्यों नहीं मालिक !"

प्रसन्न मुद्रा धारण किये, दोनों हाथो में दो चाय के गिलास लेकर पधानजी की गृहिणी ने बैठक में प्रवेश किया—"अच्छे तो हो लछमियाँ!"

"हाँ।" लछमियाँ ने उत्तर में कहा।

उसके पिता ने उठकर दोनो गिलास उनके हाथ से ले लिये।

पधानजी बोले—"यह मोटर मे नौकर हो गया है। कुछ खाने को भी तो लाओ इनको।"

लछमियाँ गिलास लेकर बोला—"आप ?"

"सूर्यास्त हो गया। मैं पी चुका हूँ। सन्ध्या करने जाऊँगा।"

पत्नी एक कटोरी में कुछ शक्करपारे ले आईं।

लछमियाँ का पिता बोला—"कटोरी ले जाइए महाराज, हाथ में रखकर ही खा लेंगे।"

गृहिणी ने ऐसा ही किया और लछमियाँ पिता की मूर्खता पर खीझ उठा।

पिता बोला—"हाँ महाराज, बर्तन थोड़े खाया जाता है। व्यर्थ ही एक बर्तन जूठा करने से क्या लाभ ? मैं तो फैशन को बवाल समझता हूँ।"

लछमियाँ मन में कहने लगा—"फैशन आगे बढ़ने का प्रकाश है, सहारा है और है पहचान। फैशन की कसौटी पर ही तो सभ्यता और जंगलीपन परखे जाते हैं।" वह शक्करपारे खा रहा था, मीठे और नरम। वह चुपचाप सोचने लगा—"कितने स्वादिष्ट हैं यह ! ये लोग सदैव ही ऐसी ही चीज़ें उड़ाते हैं। यह क्या फैशन नहीं है ? कहाँ वह हमारी मडुवे की रोटी जो अच्छी तरह न सेंकी जाय तो पेट में दरद करने लगती है और अच्छी तरह पकाई जाय तो पत्थर होकर दाँत दुखा देती है।" वह अधिक चुप न रह सका, बोल उठा—"लेकिन पिताजी दुनिया मे चलता फैशन ही है। उसकी नवीनता ही उसका वेग है।"

"होगा बेटा, पर मैं तो जवानी में भी उसके रंग नहीं पहचान सका।"

पधानजी हँसने लगे—"और मैं भी भाई, मैंने भी अभी तक खुले कॉलर का कोट नहीं पहना।"

श्रीमतीजी दोहरे कफ का, कई-कई बटनों से जड़ा सलूका पहने हुए थीं। अपने गुलाबी पिछौड़े के भीतर अपने दोनों हाथ समेटकर चलनी बनीं।

पधानजी बात समझकर मन-ही-मन हँसने लगे। लछमियाँ के पिता ने बेटे का खाली गिलास ले लिया और अपने गिलास के साथ उसे भी माँजने को जाने लगा।

पधानजी बोले—"रहने दो। धुल जायगा।"

"नहीं मालिक, अपना जूठा बर्तन कैसे छोड़ जाऊँ यहाँ?" कहकर पिता बाहर चला गया। आँगन से कुछ दूरी पर नदी से गूल काटकर पानी की धारा गिरती थी।

पधानजी लछमियाँ से कहने लगे—"बेटा, देखो बड़े-बूढ़े तुम्हारे हित की बात कहते हैं। उन्होंने युगों की दौड़ देखी है। नया भी एक दिन पुराना हो जाता है। पुराने के अनुभव से नए को लाभ उठाना ही चाहिए।"

लछमियाँ बोला—"शायद आप मेरे आगे की चाल पर कुछ कह रहे हैं।"

"चाल अपनी ही होनी चाहिए, परन्तु वह! मेरा मतलब ये जो माथे पर तुमने बालों का झुरमुट पाल लिया है। इससे क्या मतलब है? इसके लिए रोज साबुन, तेल, कंघी चाहिए। दर्पण भी चाहिए और घंटा-आधा घंटा परिश्रम भी तो। यह सब अपव्यय है।"

"दस रुपये कमाने वाले के लिए वह अपव्यय हो सकता है, परन्तु पचास वाले के लिए नहीं। मैं तो पैसा कमाने के पक्ष में भी उतना ही हूँ, जितना उसे व्यय करने के।"

"पैसे का संचय क्या बुरी बात है ?"

"बहुत बुरी बात है। आपने नथ में उसका संचय किया। वह खो गई। एक बुरे आदमी की मति डोली, तो दस भले आदमियों पर आपको संशय करना पड़ा। किसी भी राष्ट्र की उज्ज्वलता उसमें निरन्तर प्रवाहित धन की धारा है। धन को कठोर बन्धन मे रख देने वाले ये संपत्ति के संग्राहक, ये पूँजीपति—पशुता और अत्याचार के प्रतीक हैं। यही तो देश के दैन्य के जनक हैं। महाराज, बालों के लिए तेल-साबुन चाहिए तो घबराने की क्या बात है। वह सब पैसा गरीब उत्पादकों के बीच में बँट जाता है।" लछमियाँ ने कहा।

उसके पिता गिलास माँजकर आ पहुँचे—"लछमियाँ, क्या बकवास आरम्भ कर दी तूने। महाराज, यह बातों का बतंगड़ करना इसे पंडितजी सिखा गए।"

"अच्छा तो है। बढ़ता जायगा, समझ आती जायगी।" पधानजी बोले।

"चलो बेटा अब, पधानजी के संध्या-पूजा का समय हो गया। घर पर तुम्हारी माता भी राह देखती होगी। चलो।"

दोनो उठ खड़े हुए। पधानजी ने भी उठकर भीतर की ओर मुख किया—"तुम काम मे लग गए, बड़ी प्रसन्नता हुई। आ लक्ष्मी ! हमारे देश में आ, हमारे प्रान्त में आ, हमारे पड़ोस मे आ।"

लछमियाँ मन में कहने लगा—"लेकिन इस चतुर पंडित ने लक्ष्मी को अपने भवन में बन्दी कर नही कहा कि आ लक्ष्मी मेरे घर आ !"

पिता ने विदा होते हुए पधानजी से कहा—"महाराज, सेवा बताइए। हल्द्वानी का क्या काम है, यह ले आयगा।"

हँसते हुए पधानजी बोले—"हाँ, हाँ क्यो नही ! यह बराबर आता-जाता ही रहेगा, फिर देखा जायगा।"

दोनों पिता-पुत्र विदा हुए और पधानजी पंखी अच्छी तरह ओढ़कर पूजा-गृह की ओर बढ़े।

मार्ग में लछमियाँ बोला—"घबरा तो उठे हैं पधानजी !"

"कैसे बेटा ?" चिन्ता के साथ पिता ने पूछा।

"लछमियाँ बढ़ जो चला !"

"नहीं, ब्राह्मण सबका भला चाहता है। और पधानजी सच्चे ब्राह्मण हैं।"

"होंगे। मुझसे कह रहे थे माथे पर की इन बुलबुलियों को काटकर फेंक दो। क्यों परिश्रम करते हो ? इन्हें तेल से सींचने से क्या लाभ ?"

"बात तो ठीक है बेटा ! चीड़ के 'छिलके' जला-जलाकर हम उजाला करते हैं। उस तेल से हमारे घर के भीतर एक दीपक जल जायगा !"

"वाह ! यह क्या बात हुई ? दीपक के लिए भी आ जायगा और आगे बढ़िए पिताजी! कड़ुए तेल का दीपक भी कोई चीज़ हुई—लालटेन कहिए कि चल-फिरकर गोशाला भी जा सकें, जंगल भी और पड़ोसियों के यहाँ भी। मै लालटेन ला दूँगा आपके लिए, बिजली से जगमगा दूँगा सारा गाँव—जरा आगे तो बढ़ने दीजिए।"

"हाँ बेटा, क्यों नहीं ! एक को भी बढ़ाना हमें उचित है। अनेकता ही सुख है। जब सारा गाँव कह दिया तुमने तो उसमें हमारा घर भी शामिल हो गया।"

"बूढ़ा पधान अपने बेटों की बुलबुलियों को नहीं देखता। जब वे छुट्टियो में आते हैं, तो दिन-भर माँग ही सँवारते रह जाते हैं, उनको तो कटवा नहीं सके, कैंची रखने चले हैं मेरे सिर पर !"

दोनों अपने घर के भीतर प्रविष्ट हुए। सारा घर प्रसाद की भुनाहट से सुगन्धित हो रहा था। गृहिणी उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। वह चाय उबाल रही थी।

लछमियाँ ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा—"पिताजी अभी क्या है। अभी तो उनके यहाँ, इन बालों के ऊपर टोप रखकर जाऊँगा उनके बेटों की तरह, तब देखिएगा क्या कहते हैं पधानजी।"

"टोप क्यों बेटा ? तुम तो कहते हो साहब लोग हमारे देश से चले गए हैं।"

"साहब लोग चले गए हैं तो क्या हुआ? टोप तो यहीं रह गया है।"

"नंगे ही सिर गए?"

"नंगे सिर की बात नहीं कहता हूँ। कहता हूँ टोप का नमूना तो यहीं रह गया। हमारे देश के कारीगर ही तो टोप बनाकर उनके सिर पर रखते थे।"

पिता ने गृहिणी से कहा—"चाय तो हम पधानजी के यहाँ पी आए हैं। कुछ खाने को बढ़िया खस्ता शक्करपारे भी मिले।"

"फिर सही पिताजी, हर बखत चाय का बखत है।" लछमियाँ बोला।

"बडी चीण वस्तु है बेटा! दूध-दही की नदियाँ बहती थी पहले हमारे पहाड़ में जब से यह चाय बढ़ी है, हमारा बल घट गया!"

"पिताजी, मै तो चाय के बंडल को दूध बढ़ाने की मशीन कहता हूँ। दूध की कमी को भरने के लिए ही यह अवतार पैदा हुआ है। एक चम्मच से सारा लोटा-भर पानी रंग लो। एक-एक गिलास घर-भर के प्रत्येक प्राणी के मुँह तक पहुँच जायगा।"

"अरे बेटा, जहाँ पहुँची यह विष की घूँट चीणता ही बढ़ाई इसने।"

"सिर्फ आपका एक विचार है यह। दाम देकर यह पत्ती आपको मोल लेनी पड़ती है, शायद इसीलिए आपको इससे द्वेष है। लेकिन आप इनको उपजा सकते हैं इन पहाड़ों पर। उपजती है ही, परिश्रम कीजिए। सारा अंग थककर चूर-चूर हो रहा था मेरा, यह दूसरा गिलास पीकर एक नया ही मनुष्य बन जाऊँगा मैं।"

माता ने एक कटोरे में हलुवा और चाय का गिलास रखा लछमियाँ के सामने और उसके पिता के आगे केवल चाय ही रक्खी।

लछमियाँ बोला—"खाइए न आप भी।"

"नहीं सन्ध्या करके खाऊँगा।"

"क्या आप सन्ध्या करते हैं? वह तो अपने-आप हो जाती है। इन ढकोसलों में क्या रक्खा है पिताजी, ये सब आगे बढ़ने की रुकावटें हैं।"

"जिस भगवान् ने हमें धरती पर के पदार्थ दे रक्खे हैं, उसका प्रातः-सन्ध्या-स्मरण हमारे मुख्य कर्तव्यों मे से प्रधान है बेटा।"

"तो क्या वह भगवान् नंगा होकर चौके में बैठ जाने से दिखाई देता है? या इस जनेऊ के धागे में बँधा रहता है? कहीं पर किसी दशा में भी हम उसे स्मरण कर सकते हैं।" चाय पीकर लछमियाँ बोला।

"वक्त बाँधकर जो बात होती है, वही ठीक और सच्ची होती है और उसका एक ठौर बना देने से भी हमें ठीक-ठीक भगवान की समीपता मिलती है।"

"ओह! कुछ नहीं, सब ब्राह्मणों का पाखंड है। भगवान् कहाँ नहीं हैं? सब जगह हैं!"

"अब इस साल मैं तुम्हारी जनेऊ कर देने का भी विचार कर रहा हूँ।"

"नहीं, नहीं, पिताजी मुझे इस ढकोसले में न सानिए। मैं ऐसे ही ठीक हूँ।"

"नहीं बेटा, वह तो प्रत्येक हिन्दू का धर्म है। जनेऊ हो जायगा, दोनों समय सन्ध्या करोगे, नहाओगे-धोओगे, ऊँच-नीच का विचार प्रकटेगा तुम्हारे। विद्या-बल में बढ़ते जाओगे। यही असली आगे बढ़ना है।"

"यह सरासर झूठी बात है पिताजी, हम आजाद हो गए हैं। यह जनेऊ का धागा हमारी गुलामी की निशानी है। यदि मेरे गले में पड़ा भी होता तो उसको तोड़कर फेंक देता। उसे पहनाकर आप मेरे मन में ऊँच-नीच का भेद पैदा करेंगे? कौन है ऊँचा? जिनका ऊँचा मकान

है। और नीचा कौन है ? जो बिना आधार के भूमि पर सोता है। नहीं पिताजी, भगवान् ने हम सबको समान ही बनाया है। ऐसा भेद डालने वाला धागा नहीं पड़ेगा मेरे गले मे।"

"बाप-दादा का नाम डूब जायगा। जनेऊ तो डाला ही जायगा तुम्हारे गले मे।"

"मेरे गले में जनेऊ डालकर हो क्या जायगा ? मेरी मोटर की नौकरी, रात खुले से अँधेरा होने तक मैं मोटर ही में। कहाँ जाऊँगा तुम्हारी सन्ध्या करने ? कहाँ खोलूँगा कपड़े ?'

"अरे दो मिनट के लिए बैठ जाना किसी जलाशय के पास।"

"जलाशय-वलाशय कुछ नहीं पिताजी, मै तो हमदम के साथ बैठकर खाना खाता हूँ।"

"हमदम कौन है ?"

"मेरा मित्र और मेरा उस्ताद !"

"अरे वह तो—"

"चुप रहिए, उसकी शान के खिलाफ कोई बुरा शब्द काम में न लाइएगा। मैं कहता हूँ हमदम के जैसा दयावान, सच्चा और ईमानदार आदमी दूसरा नहीं है तमाम मोटर को लाइन पर।"

पिता चुप रह गए। उन्होंने सोचा "इस बात पर बहस करना व्यर्थ है। जनेऊ के बाद भ्रष्ट हो जाने से, जनेऊ न करके भ्रष्ट रहना अच्छा है।"

पिता को चुप देखकर लछमियाँ कहने लगा—"खान-पान की घृणा और मनुष्य के ऊँच-नीच के विद्वेष से ही तो भारत के टुकड़े-टुकडे हुए हैं। अनेकता के एकत्व को साधने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम आपस के द्वेष को छोड़कर एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार करें।"

पिता मन में सोचने लगे—"दो-चार साल कर लेने दूँ इसको अपने मन की। नया खून है फिर बखत ही ऐसा आ गया है। पधानजी के लड़के भी बिलकुल साहब बनकर आते हैं यहाँ। सन्ध्या-पूजा का

सारा वखत बनाव-सिंगार मे जाता है। जूता पहनकर सब-कुछ हजम कर जाते हैं। छूत-छात का नाम नहीं मानते। स्त्रियो के हाथ पकड़कर घूमने जाते हैं। जब पंडित होकर पधानजी के घर के ये हाल है, तो हम तो क्षत्रिय हैं।"

लछुमियाँ बोला—"जीवन का स्तर ऊँचा करना है पिताजी हमे। क्या है हमारा जीवन! पशुओं की तरह दिन-भर परिश्रम किया आपने, परिश्रम के विरुद्ध नहीं हूँ मैं, पर उसका कोई ढंग होना चाहिए। पशुओं की भाँति कुछ दाना-घास डाल लिया हमने पेट में, वैसे ही भूमि पर पड़ रहे।"

पिता बोले—"बेटा, कुछ समझ में नहीं आ रहा है तुम यह हमारी रोटी में कड़ुए बीज मिला रहे हो या उसे मीठा बना रहे हो?"

"उसे मीठा ही नहीं, चुपडी भी बना दूँगा।"

"तुम हमारे घर में यह असन्तोष बो रहे हो या उसमें अशान्ति की आग लगा रहे हो?"

"मैं सुख-शान्ति के दीपक जला रहा हूँ। बिजली के दीपक! तेल-बत्ती, न दियासलाई। एक बटन दबाया नहीं कि तमाम बल्ब जल उठे। कितना सुख है—कैसी बचत है!"

"क्या सुख है? तम्बाकू के लिए कोयले तो सुलग नहीं सकेंगे उस दीपक से।"

"आप तो अजीब तरह से सोचते हैं। समय की कितनी बचत हो जायगी आपको। जब अपने-आप दीपक जल उठेगा, तो अपने-आप हलचल पड़ेगी।"

"क्यों बेटा, अपने-आप पानी भी बरस जायगा?"

"बरस जायगा, क्यों नहीं बरसेगा? लेकिन अभी यह मुझे ठीक मालूम नहीं है।"

"नहीं बरसेगा बेटा, मैं कहता हूँ तुमसे, नहीं बरसेगा। आकाश की ताली कौन खोल सकता है? जवानी में मैं भी तुम्हारी तरह आगे बढ़

जाने को तैयार था। नहीं बेटा, आगे बढ़ जाना मृग की मरीचिका है।"

"संसार में कर्मवीर के लिए सब-कुछ सम्भव है। सन्तोष आलसी का मन्त्र है और सरलता निरुद्यमी का सिंगार।"

"क्या है उद्यम? जब पसीना बहाकर हमने खेत तैयार किये, बीज बोकर हमने उसमें पटला चलाया, हम आकाश की ओर ताकते ही रह गए और उसमें बादल का एक टुकड़ा भी न उगा तो फिर हमारे उद्यम का क्या मूल्य? यहीं पर धरती माता का बेटा, किसान भाग्य-वादी बन जाता है।"

"उसकी दुर्बलता जानकर ही महन्तों ने नई-नई मूर्तियाँ गढ़कर नए-नए मठ बना दिए। उन्होंने अपने लिए भगवान् का आसन छीन लिया और दीन श्रमजीवी को मनुष्य से भी नीचे पशु की श्रेणी में गिरा दिया। धन्य रे भाग्य! धन्य रे भगवान् और धन्य रे धर्म।"

"जब धर्म ही न मानोगे तो फिर सूर्य कैसे उदय होगा?"

"ऊँच-नीच मानना ही धर्म है क्या?"

"ऊँच-नीच क्या इसमें? वह तो शरण और रक्षा का सम्बन्ध है। वह तो अनार के पेड़ और खीरे की बेल का प्रश्न है।"

"यह भेद अत्याचार की सूचना है धर्म की नहीं। धर्म मानता हूँ मै, पर लोकान्तर उसका क्षेत्र नहीं है। उसका क्षेत्र इसी धरती पर है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति ही नहीं, जीव-मात्र के प्रति सद्व्यवहार का नाम धर्म है।"

"यह भी बात है बेटा!"

"धर्म की व्याख्या के लिए पधानजी के यहाँ तक जाना नहीं है। अपने ही हृदय मे टटोलो पिताजी, वहीं सब सहज ही समझ में आ जायगा।"

ये विवाद के प्रश्न छोड़कर पिता ने साधारण बातें चला दीं। खा-पीकर रात काटकर लछमियाँ ने प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही तिपनियाँ

के प्रस्थान की तैयारी की। माता ने बड़े आग्रह के साथ उसे कुछ खा-पी लेने को बाध्य किया।

उसके जाते समय पिता ने पूछा—"अब कब आओगे ?"

लछमियाँ ने पिता के पिछड़े हुए उस जीवन और निवास पर दृष्टि डालकर कहा—"देखिए, नौकरी ठहरी, जब अवकाश मिलेगा।"

उसकी माता ने एक 'ठेकी'-भर दही और एक घी का भरा लोटा एक 'शिखा' में बाँधकर लछमियाँ को दे दिया।

पिता बोले—"शिखा सँभाल कर रख लेना, बर्तन भी।"

लछमियाँ हँसा—"हाथ की इस शिखा से आपका मतलब है या सिर की ?"

"दोनों" पिता ने कहा।

लछमियाँ माता-पिता से "जय हिन्द !" कहकर विदा हो गया।

भुमिया के मन्दिर से होकर ही उसका पथ था। जल्दी-जल्दी पहाड़ों पर चढ़ता हुआ वह धर्मशाला मे पहुँचा।

बाबाजी अकेले ही आसन पर विराजमान थे। धूनी प्रचंडता से जल रही थी। वह स्नानादि से निवृत्त हो अंग में भस्म धारण कर रहे थे।

लछमियाँ को कुछ भेंट हाथ मे लेकर आते हुए देख बाबाजी को आश्चर्य हुआ।

"जय हिंद !" लछमियाँ बैठा नहीं !

"जय शंकर ! विराजो भगत !" बाबा ने कहा।

"शंकर किसने देखे हैं ?"

"और हिन्द ?"

"नक्शा तो है।"

"उनकी भी प्रतिमा है।"

"इससे क्या हुआ ? गढ़ा हुआ है सब।"

"बैठो तो सही।"

"समय नहीं बहस के लिए। मैं जा रहा हूँ नौकरी पर। लोटा-

कम्बल मैं ले जा रहा हूँ और इस धर्मशाला को खाली कर चला हूँ आपके लिए। लछमियाँ अपना लटो-पटो कन्धे पर लाद बिना पीछे देखे हुए चल दिया।

तिपनियाँ पहुँचकर उसने दही और घी हमदम के सामने रख दिया।

"क्या है ?" हमदम ने पूछा।

"उस्ताद की भेंट।"

"रक्खो, उसके मालिक तो तुम्हीं हो।" हमदम ने हँसते हुए कहा।

आठ

. . . .

पण्डितजी के ग्राम-निवास के आरम्भिक महीने तो शान्ति से बीते, फिर संघर्ष की उथल-पुथल मचने लगी। नगर-निवासी नवीन लहरों को सहज ही पचा लेते हैं, परन्तु ग्रामवासी बड़ी धीर गति से उनका सामना करते हैं।

पण्डितजी उदार विचारों के थे। छुआछूत नहीं मानते थे। लोक-सेवा में ही उनकी धार्मिकता थी तथा प्रतिवासी की सहायता ही उनकी पूजा-अर्चना थी।

परन्तु चाचाजी की रसोई में ही उनके भोजन का प्रबन्ध था और वही संयुक्त गृह उनका निवास भी था। चाचीजी पक्के पुराणपंथी थे और चाचीजी उनसे भी कई सौ वर्ष पूर्व के आचार-विचार मानने वाली थीं।

नगर में सन्ध्या-पूजा कुछ नहीं करते थे पण्डितजी, वहाँ हवा ही वैसी थी। गाँव में चाचाजी के प्रतिवाद से बचने के लिए सन्ध्या का स्वाँग उन्हें रचना पड़ा। वह भोजन की थाली के सामने हाथ में जनेऊ लपेटते और भोजन से पूर्व अन्नांश से पाँच बलियाँ भूमि पर रख देते। वे किसके नाम की थीं, यह तो वह भूल गए थे, पर संख्या उन्हे सही याद थी।

दो-ही-तीन दिन बाद चाचाजी ने एक दिन उन्हें टोक दिया—"बेटा, रसोईघर की सन्ध्या, यह तो कुछ अर्थ नहीं रखती।"

पण्डितजी उनका मुख ताकते रह गए।

"तुमने मुझसे अधिक पुस्तकें पढी है। तुम्हारी समझ मे बात आ जायगी इसी से कहता हूँ। अन्न की थाली परोसी जाकर जब सामने रक्खी गई, तो फिर भगवान् की भावना हम नही कर सकते। इसलिए पूजाघर से रसोईघर का विभक्त रहना सर्वथा उचित ही है। यह हमारे पूर्वजों का निर्णय उपहास और उपेक्षा का विषय नही है।"

पण्डितजी सोचने लगे—"बडी मुश्किल पड जायगी!" वह सन्ध्या के न्यास, विनियोग, संकल्प, आवाहन, अघमर्षण आदि के मन्त्र ही नहीं गति-विधि भी भूल गए थे। केवल गायत्री याद थी। उनके मुख पर विकट असमंजस अंकित हो गया!

चाचाजी ने वहीं पर चोट की—"केवल मंत्र जपने से ही कुछ नहीं होता। उसको भूमिका, अधिष्ठान और आवाहन भी चाहिए। तुम भूल गए हो तो कोई लज्जा की बात नहीं है, पूजाघर में पुस्तक रक्खी है फिर याद किया जा सकता है।"

"हाँ चाचाजी!" पण्डितजी सोचने लगे—"बुरा फँसा!"

चाचाजी ने कहा—"मन्त्र का संचय करने से पहले इस काया के पात्र को सबल और निर्मल करना आवश्यक है न?"

"अवश्य।"

"प्रत्येक सन्ध्या के आरम्भ मे मन और इन्द्रियों को बलवान करने के लिए प्रेरणा दी जाती है। यदि शुद्ध विचार से हम वह प्रेरणा दें तो वह अवश्य प्राप्त होती है। विदेशी संस्कृति के पीछे दौडने वाले कहते हैं—केवल कहने से क्या होता है?"

"चाचाजी, मनोविज्ञान सर्वत्र एक-सा है। मैंने स्वदेशी और विदेशी मनोविज्ञान दोनो का अध्ययन किया है। विदेशी नव-विचार का आन्दोलन ध्यान के महत्व को भी मानने लगा है और जप को भी उसने गौरव दिया है। वे लोग तो यहाँ तक कहने लगे हैं, निरन्तर और ठीक-ठीक आत्म-सूचना दोहराने से बड़े-बडे रोग, जो औषधि से

नहीं हिल सकते, जड़ से चले जाते हैं।"

"प्रसन्नता की बात है तुममें श्रद्धा है। वही तो हमारे आगे बढ़ने की शक्ति है। हमारी प्राचीनता ही शेष जगत् की नवीनता है। तुम्हारे संस्कारों ने तुम्हें फिर ग्रामों की ओर लौटा लिया है। नगरों की भीड़ केवल एक मदारी का तमाशा है।"

"सच है चाचाजी, वह मदारी पश्चिमी विज्ञान है। उसने बिजली के तार जोड़कर मशीन का पहिया चलाया है। उसके चमत्कारों का लोगों ने विश्वास किया है, पर मन के विचारो में जहाँ सारी भौतिकता सोती है, कोई आँख उठाकर देखता भी नहीं।"

"विचार का जगत् एक ओर प्रकृति से मिला हुआ है दूसरी ओर भगवान् से। अमित विचारों के रखने से मनुष्य को उस जोड़ का पता नहीं चलता और वह योग को संदिग्ध कहकर विज्ञापित करता है।"

"हाँ चाचाजी, भौतिकता के जाल में वह जितना ही जकड़ता गया उसने अपने को उतना ही मुक्त समझा। वास्तव में यह उसकी प्रकृति की विजय नहीं है, उतनी ही उसकी पराधीनता है। वह घोर कृत्रिमता के बीच में अपनी वास्तविकता को भूल गया!"

"तुम कैसे प्रकृति की ओर आकृष्ट हुए?"

"साहित्य और कला की अभिरुचि के कारण चाचाजी! दोनों ही एक प्रकार का मनोयोग माँगते हैं। दोनों मन की वश्यता के ऊपर की वस्तु हैं। उनकी साधना में मुझे भीतर और बाहर की सन्धि दिखाई तो नहीं दी, उसका आभास अवश्य मिला।"

"कला तो राज्याश्रय चाहती है। फिर तुम नागरिकता से क्यों भाग उठे?"

"नहीं चाचाजी, आश्रय कोई वस्तु नहीं, किसी का भी नहीं। आश्रय की खोज मन की हीनता है। कला विलासिता नहीं है, वह है

मन की निर्मलता। इसलिए मुझे कलाकार अनागरिक के रूप में दिखाई पड़ा।"

"पढ़ते-लिखते तो तुम कुछ भी नहीं दिखाई देते?"

"हाँ, वह भी केवल एक उलझन है। शुद्ध विचार उससे कुछ स्थूलता पा जाता है और अन्तर्मुख मन बहिर्मुख होकर फिर जगत् के सम्बन्धों से जुड़ जाता है। अहंकार बढ़कर सत्य पर आवरण डाल देता है।"

"फिर किधर बढ़ रहे हो तुम?"

"भीतर की ओर। ध्यान ही में तो सारा विस्तार समाया हुआ है, जैसे दृष्टि-विन्दु में चित्र की समस्त सत्ता।"

"किसका ध्यान करते हो?"

पंडितजी इधर-उधर झाँकने लगे—"क्या बताऊँ चाचाजी, केवल दिशा ज्ञात है, पथ नहीं दिखाई देता।"

"फिर भी कुछ ध्यान तो करते ही होगे?"

"हाँ, कोई भी वस्तु।"

"जैसे।"

"आम ही ले लीजिए। पाँचों इंद्रियों पर जो उसके संवेदन उपजते हैं, मैं पाँचों मार्गों पर उन्हें प्रकटाता हूँ। पूरे परिमाणों में मैं उसे देखता हूँ, उसकी गन्ध का अनुभव करता हूँ, उसके माधुर्य का भी रस लेता हूँ, उसके स्पर्श की चेतना पाता हूँ और उसको उछालकर उसकी ध्वनि भी सुनता हूँ।"

"यह तो तुम इंद्रियों के विलास में रत हो गए। यह दौड़ तो बाहर की ओर ही अनुगामित है तुम्हारी।"

"बाहर की वस्तु को भीतर प्रकट कर रहा हूँ। भौतिकता मन मे केवल एक कल्पित स्फुरण ही तो उपजाती है। स्मृति की सहायता से केवल मानसिक उपादानो से भी वह स्फुरित हो सकता है।"

"इससे क्या तुम्हारा बाहरी प्रतिबन्ध टूट जायगा?"

"विश्वास तो ऐसा करता हूँ।"

"किसने बताया तुम्हे यह आम का ध्यान ?" चाचाजी ने हँसते हुए पूछा।

"विदेशी मनोविज्ञान के अध्ययन ने। धारणा के विकास के लिए ऐसे ही अभ्यास उन पुस्तकों मे बताये गए हैं।" पंडितजी ने गम्भीरता से कहा।

चाचाजी हँसने लगे—"यह अध्यात्म कहा हुआ ? अन्तः माया ही हुई।"

"माया से हम ध्यान में उसके आकार पर आए, वह ध्यान की ही वृद्धि हुई, माया की कैसे ?"

"लेकिन लक्ष्य तो हमारा निराकारता है।"

"ठीक है जैसे निराकारिता के लिए मूर्त्ति चाहिए, वैसे ही मूर्ति के लिए जगत् की वास्तविकता।"

"विचार अपने अर्थ खोकर एक भावुकता की रचना करते हैं। विचार उसका इकाई हैं।"

"भावुकता का ध्यान कैसे होगा ? चाचाजी, एक विनय है। भारत के अतिरिक्त समस्त जातियों ने सभी युगों मे केवल जड़वाद को ही प्रश्रय दिया है, यह मानना हमारी अहम्मन्यता है।"

"प्रत्येक जाति की भौगोलिक स्थिति उसकी अलग संस्कृति बनाती है।"

"परन्तु विज्ञानमय आधार पर सारी मानवता की संस्कृति एक है।"

चाचाजी के मुख पर अनुमोदन प्रकट नहीं हुआ।

पंडितजी बोले—"चाचाजी, वाद-विवाद मुझे पसन्द नहीं है। आप ही बताइए फिर भावुकता के ध्यान के लिए क्या आदर्श हो ?"

"बेटा, सुनी-सुनाई बातों के अतिरिक्त और मैं जानता ही क्या हूँ।"

"फिर भी ?"

"हमारे देवी-देवताओं के जो रूप हैं, उनकी रचनात्मकता का

आधार भावुकता ही है। माता के रूप में सृष्टि की त्रिगुणात्मकता—गायत्री। कला की साधना तुम्हारी जिस भावुकता को नहीं जगा सकी, वह जगा देगी। तीनों काल की सन्ध्या करो। बिलकुल ठीक और नियमित नपे हुए समय मे। आधार पक्का करना सबसे पहले आवश्यक है। इसके पश्चात् ही कुछ हो सकता है।"

पंडितजी ने सन्ध्या के नियम की पालना निश्चित की।

"तारों की ज्योति में उठ जाया करो प्रभात-समय मुझसे भी पहले।"

"हाँ चाचाजी, पहले मैं सूर्योदय के पश्चात् ही उठता था।"

"रात्रि-जागरण यह विज्ञान का अभिशाप है। उसने यह जो बिजली का दीपक जलाया है, वही इस रात्रि-जीवन का मुख्य कारण है।"

"इसलिए तो मैं उस प्रकाश को छोड़कर स्वाभाविक ज्योति की ओर बढ़ आया हूँ। बलपूर्वक हठात् कोई प्रकृति नहीं बदली जाती, धीरे-धीरे निरन्तर की साधना से अब मैं सूर्योदय से कुछ पहले उठ जाता हूँ।"

पंडितजी सन्ध्या को रसोईघर में से उठकर फिर ठाकुर-घर की ओर ले चले। सन्ध्या की पुस्तक लेकर उसे याद करने लगे। पंडितजी को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। सन्ध्या की एक-एक बात मे उन्होंने बड़ी गहराई अनुभव की और ऋषियों के सूक्ष्म ज्ञान की सराहना करने लगे।

चाचाजी के साथ सन्ध्या करने में उन्हे हिचक थी। वह उनसे पहले ही उठकर कुछ देर पूजा-गृह मे सन्ध्या का अभिनय करने लगे। जो भी जैसी भी सन्ध्या करते, होती थी वह नियम से, ठीक एक ही समय में। पंडितजी को जब सन्ध्या की देवी के ध्यान कंठस्थ हुए, तो उन्होंने अनुभव किया उस देवी का आविर्भाव सूर्य के मंडल में से हुआ है एवं निरन्तर काल की चेतना में अवस्थान उसका लक्ष्य है। इसलिए वह प्रतिदिन ठीक एक ही क्षण में और एक ही स्थान पर उसमे आरूढ़ हो जाने पर आकर्षित हो गए।

धीरे-धीरे अभिनय करते-करते पंडितजी के मन में सन्ध्या के प्रति

अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हो गई। वह तन और मन दोनों के स्वास्थ्य में संवर्द्धित होते गए। प्रभात तथा सन्ध्या-समय वह ठीक-ठीक नियमानुकूल सन्ध्या करने लगे। विधि सहित सन्ध्या के मन्त्र उन्हें याद हो गए।

पुस्तक पढ़ना उन्होंने छोड़ दिया। वह कहते, पुस्तकावलोकन से भ्रम बढ़ता है। स्वभाव में केवल अनुसन्धान की वृत्ति ही बल पाती है और मिलता कुछ भी नहीं है। साहित्य की रचना और कला की रचनात्मकता भी उन्होंने संन्यस्त कर दी। उनका विचार हो गया, कला की साधना केवल एक जंजाल है, जो ध्यान के स्तरों पर व्यक्ति को ऊपर उठने नहीं देती। वह जागृति के अधिकांश में केवल विचार के ही जगत् में निवास करते। वातुलता, परोपदेश और वाद-विवाद इनको भी वाणी के विभ्रम में सम्मिलित करने लगे।

दिन-भर शुद्ध श्रम मे समय अतिवाहित करते। शुद्ध श्रम का अर्थ लगाया था उन्होंने, बिना सिक्के की सहायता के अपने ही श्रम से धरतीमाता से अपनी जीविका का उपार्जन। वह दिन-भर कभी गाय चराते, कभी खेतों से घास निकालते, कभी जंगल से लकड़ी काट लाते, कभी टूटी-फूटी गूलों और दीवालों की मरम्मत करते।

आरम्भ से ही चाचाजी, पंडितजी को इस प्रकार शारीरिक श्रम उठाने पर बरजते रहे। परन्तु वह मानने वाले कहाँ थे!

चाचाजी ने फिर एक दिन उनसे कहा—"बेटा, शारीरिक श्रम, श्रम की तुच्छता है। पंडितजी का श्रम तो मस्तिष्क का श्रम है, विद्या का विस्तार।"

"इसी समझ पर तो चाचाजी मैंने वह नवीन बेसिक स्कूल खोला था।"

"बात तो अच्छी थी।"

"परन्तु मेरे मन में तो यह सूत्र बस गया—'एक हि साधे सब सधे।' और यह एकता केवल मेरे ही अपनेपन का जागरण है। मेरी

जागृति पर सारा जगत् जाग उठता है और जब मैं मोहित होकर सो जाता हूँ तो सारी सृष्टि शून्य में मिल जाती है। इसीलिए मैं अनेकों की सेवा और सहायता के विचार और श्रम को पाखंड समझने लगा। मैंने उस पथ को छोड दिया और केवल अपनी आत्म-साधना को ही लक्ष्य समझ लिया।"

"कोई विद्या से संयुक्त लाभकारी कार्य करते।"

"लाभकारी कार्य—अर्थ ही केवल लाभ है? नहीं चाचाजी, मैं उसे तमाम अनर्थों की जन्मभूमि मानता हूँ। जहाँ-जहाँ भी वह संश्लिष्ट है, वहाँ से श्रम की शुद्धि तिरोहित है। अर्थ की व्युत्पत्ति से विहीन कोई श्रम आप बताय तो मुझे।"

चाचाजी ने विचार किया। कुछ सूझा नहीं उन्हें। अन्त में बोले—"फिर तुम्हारी विद्या का उपयोग क्या रहा दिन-भर की इस कुली-गिरी मे?"

"वास्तविक उपयोग हुआ है चाचाजी! क्योकि इस श्रम में मेरी प्रतिफल की कामना न्यूनतम हुई है। गेहूँ की बाल से मोतियो के झरने का लालच नहीं उपजता मेरे। श्रम हाथ-पैर ही तो करते हैं। मेरे अहंकार का एक दोहरापन भी तो है, वह मेरी मानसिकता है। मैं दिन-भर प्रकृति के साथ एक ही विचार की धारा मे अपने ध्यान को भी तो साधता रहना हूँ। हाथो से मै अपने खेत की घास निकालता रहता हूँ, तो मन से अपने मन के क्षेत्र से कामना की जड़ें खोदता जाता हूँ।"

चाचाजी ने मनोयोग से अपने भाई के पुत्र की ओर देखा।

"इसलिए चाचाजी ऊँचाई-निचाई मे तो श्रम की विभक्ति की नहीं जा सकती, हाँ रग का भेद उसमे विद्यमान है।"

"रंग का कैसा भेद?"

"चोरी और साहूकारी का, काले और श्वेत का।"

चाचा जी अनुमोदन की ओर बढ़े।

पंडितजी कहते जा रहे थे—"किसी के अधिकार या सम्पत्ति का अपहरण यही श्रम की अशुद्धि है। इसलिए समाज में ऊँच-नीच का भेद नहीं समझा जाना चाहिए, सचाई के साथ, निर्लोभ होकर शुद्ध श्रम का प्रवर्तक हमारा हाली—चाचाजी, वह अछूत क्यो है आपके व्यवहार मे?"

"वह अछूत ही उत्पन्न हुआ है।"

"जन्म तो कोई बात नहीं है। केवल एक अवसर है।"

"कर्मों की एक समष्टि ही तो जन्म है।"

पंडितजी विचार में पड़ गए थे। चाचाजी और उनके बीच में यही एक भेद की रेखा पडी थी। चाचाजी जन्म और कर्म के बीच, भाग्य और उद्यम के बीच कोई अन्तर नही समझते थे और पंडितजी समझते थे। पंडितजी अछूत को हाथ पकड़कर ऊपर उठा लेना मानव-धर्म समझते थे, परन्तु चाचाजी प्राचीन रूढ़ि को बदल देने को कदापि प्रस्तुत नहीं थे। उनका पक्का विश्वास था—उसे अपनी ही शक्ति से उठ जाना चाहिए।

पंडितजी अछूत हाली के साथ साहचर्य-स्थापना को लालायित थे, परन्तु चाचाजी ने अनेक प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे। पंडितजी उन्हे कुपित कर देना नहीं चाहते थे। नगर के होटलों में, सभी प्रकार के मित्रों के साथ खाना खा-पी लिया करते थे, परन्तु गाँव में आ जाने से चाचाजी को प्रतिष्ठित रखने के लिए पंडितजी को उनके अनुबन्धो मे बँधना पड़ा था।

"चाचाजी यदि मैं आपके हाली को काया और वस्त्र की उज्ज्वलता में धो सकूँ, तो फिर भी क्या वह घृणा का पात्र रह जायगा? कैसा अत्याचार है यह हमारा, यदि हमने गिरे हुए को और एक ठोकर लगा दी!"

"उसको वाणी और विचार में भी उज्ज्वल होना है।"

"तो क्या एक के पश्चात् दूसरे संस्कृत के श्लोक उसके अधरों

से निःसृत होना ही उसकी उज्ज्वलता है ? वाणी का भूषण सत्य है चाचाजी, व्याकरण कदापि नहीं। शुद्ध और ललित वाक्यों मे निरी झूठ का बोलने वाला चोर ही है।"

"शुद्ध वाणी का बोलने वाला न कभी झूठा विचार ही करेगा, न झूठा उच्चारण। बाहर की मलिनता, अन्तर के विकार की अभि-व्यक्ति है।"

पंडितजी के मन मे एक नई शाखा प्रकट हुई। कुछ सोच-विचार के अनन्तर उन्होने कहा—"बाहर की स्वच्छता से उसके विचार परि-ष्कृत हो उठेंगे तो, मैं निरन्तर चेष्टा करूँगा।"

"तुमने केवल एक का साधन-व्रत लिया है। तुम फिर 'पर' की भावना में फँस गए!"

पंडितजी ने कुछ देर के लिए शिवा मौन धारण किया। चाचाजी ने कहा—"वत्स! जब तक उसके विचारो मे परिवर्तन नहीं होगा, कर्म न बदलेंगे।"

"यदि उसके विचार बदल गए, कर्म शुद्ध हो गए तो ?"

"वह शुद्ध है।"

पंडितजी को कुछ सहारा मिला, अपने मन की एक ग्रन्थि खोलने के लिए ही पंडितजी हाली को शुद्ध करना चाहते थे—वह थी उनके अपने श्रम की शुद्धि!

पंडितजी केवल अपने ही श्रम के आधार पर जीवन धारण करना चाहते थे। परन्तु उनके अन्न की उस दौड में दो सिरो पर दो बड़ी-बडी बाधाएँ थी। एक सिरा था खेत और दूसरा पाकशाला!

चाचाजी हल चलाने को महान् छूत मानते थे और पंडितजी चाहते थे, वह स्वयं ही हल चलाकर अपने खेत को बीज के लिए तैयार कर लें। परन्तु अब तक कर नहीं सके थें। यह थी एक सिरे पर की बाधा और दूसरे सिरे पर वह अन्न के अपने ग्रासो को स्वयं ही पकाना भी चाहते थे, बड़ा अद्भुत मेल था—एक ओर वह अछूत की छूत मिटा

देना चाहते थे और दूसरी ओर उत्कंठित थे स्वयं-पाकी बन जाने को! विचित्र संगति !

चाचाजी बोले—"जहाँ तक मानवता का सम्बन्ध है, विचार के जगत् मे, सिद्धान्ततः अछूत के भीतर वही बोलता है जो हमारे भीतर। भावना में हमें कोई घृणा नहीं होनी चाहिए उससे।"

"व्यवहार में ?"

"भावना मे शुद्ध होंगे तो व्यवहार में अशुद्ध हो न सकेंगे।"

"उसकी छूत मानना क्या व्यवहार का शुद्ध रह जाना है ?"

"मनुष्य की छूत कहाँ है यह, उसकी मलिनता की है। मनुष्य के समुदाय से नगर बना है, तुम क्यो नगर से गाँव की ओर बढ़ आए हो। उस वातावरण का त्याग क्या तुम्हारी उसके प्रति घृणा नहीं दिखाती ?"

"हाँ दिखाती तो है। परन्तु हाली, प्रकृति के संसर्ग में है। विचार, वाणी और व्यवहार मे उसके कोई कृत्रिमता नहीं है। इतनी साधुता समाज द्वारा क्यों लूट ली गई है, समझ नहीं पड़ती।"

"वह विचार, वाणी और व्यवहार मे समन्वित नहीं है। तुमने सदैव ही मशीनो को श्रम का अशुद्धाचार, बेकारी का जनक, पूँजीपतियों का पोषक और मजूरों का शोषक, यही नाम दिए हैं।"

"इन विवादो को जाने दीजिए चाचाजी, यह तो नगर के साथ छूट गए।"

"पूँजीवाद गाँवो के भीतर नहीं है क्या बड़े-बडे जमींदारों के रूप से।"

"यह भी विवादग्रस्त विषय है। मुझे मेरे मतलब पर आने दीजिए। अच्छा, मैं हाली के साथ खाता तो हूँ नहीं।"

"खाने को दो उसे, मैं निर्दयता नहीं सिखाऊँगा पुत्र तुम्हें। तुम्हारी धर्म मे मति को ही स्थिर रखना चाहता हूं।"

"उसके साथ मेरे हल चलाने मे आपको क्या आपत्ति है ?"

"अवश्य आपत्ति है।"

"केवल परम्परा—नहीं, तर्क भी आवश्यक है।"

"तुम्हारे कौन तर्क है ?"

"मैं केवल अपने ही श्रम पर जीना चाहता हूँ। सबसे कठिन श्रम हाली का है खेत में। मैं उसके श्रम में अपना दाना उगाकर पेट भरना नहीं चाहता।"

"उसे मजूरी दे दी जाती है। यदि तुम उसका काम करने लग जाओगे तो उसकी पालना कैसे होगी, वह क्या करेगा ?"

"वह भी अपने ही शुद्ध श्रम में उपार्जन करेगा और हमारी दया की अधीनता से मुक्ति पा लेगा।"

"खेत कहाँ हैं उसके पास।"

"कुछ दान कर दीजिए। दान की अमित महिमा है!"

"चल ही तो रही है एक परम्परा। क्यों नवीन परम्परा पर रीझे हो ? वह भी कुछ दिनो मे पुरानी पडकर ऊब न उठा देगी क्या ?"

"हल एक अपवित्र वस्तु है।" चाचाजी को तर्क चलाने के लिए एक बढ़िया संज्ञा मिल गई।

"क्यों है ?"

"तुम मशीन को अपवित्र नहीं कहते हो ?"

"वह मशीन नहीं है। पहिए की संयुक्ति ने ही मशीन को परिभाषित किया है।"

"काल और देश के साथ श्रम की संक्षेपता मशीन की परिभाषा है, केवल पहिया ही नहीं!"

पंडितजी चक्कर में पड गए! पहिए से दूर अपने गाँव के एकान्त मे भाग आने पर उन्होने देखा, और विचारा—वह आकुल हो गए।

चाचाजी ने पूछा—"क्यो है न बात ?"

"हाँ चाचाजी! चक्की और चरखा ?"

"ये भी मशीनें है। इनमे तो पहिया साक्षात् है।"

"तब ?"

"तब सिल में पीसो या दाना ही चबा जाओ, पुआल बिछाओ और पत्ते लपेटो।"

"यह तो बहुत दूर की बात आप कहते है। पहले पास की कठिनता तो सुलझने दीजिए। श्रम कैसे शुद्ध हो ?"

"हल चलाने से नहीं होगा बेटा! मै दो मूक पशुओं के कंधों पर जुआ रखकर उनकी पूँछ मरोडते हुए तुम्हे नहीं देख सकता।"

"अच्छा चाचाजी, इस हल का एक और हल मिल गया मुझे!" पुलकित होकर पंडितजी बोले।

"क्या मिला ?"

"कुदाल को तो आप मशीन न कहेगे ?"

"नहीं, कुदाल की गति मे प्रवेग भर देने के लिए न उसमें कहीं पहिया है न भाप, बिजली या पशु-मानव का सम्पर्क। उसे मशीन नहीं कहा जा सकता।"

"मैं उपका उपयोग तो करता ही हूँ। उसमे तो मेरे अशुद्ध हो जाने का भय नही है न ? निःसन्देह हल का प्रयोग हमारा लालच है, जीव के प्रति कठोरता भी है। मूक जीव! वह तो अछूत के समान ही दया का पात्र है। चाचाजी, अब मैं क्षेत्रज्ञ हो गया। मेरे अन्न का खेत अब मेरे ही हाथो से खोदा जायगा। मैं ही वैसा बीज बोऊँगा, वैसा ही लवाऊँगा।"

"खोद सकोगे ?"

"अपने-भर को क्यों नहीं ?"

"अच्छा मान लिया तुमने खेत खोद भी लिया और लवा भी लिया फिर क्या होगा ? फिर तो पहिए का ही सहारा लेना होगा।"

"रोटी छोड़ दी जा सकती है चाचाजी!"

"तवा भी तो पहिए का ही भाईबन्द है।"

"यह तो आप परिहास कर रहे हैं चाचाजी!"

"बात ही तुम ऐसी कर रहे हो ? केवल चावल खाकर रहने के अभ्यासी तुम नहीं हो। भोजन के प्रकार में हठात् परिवर्तन करने से बीमारी का सामना करना पड गया तो ?"

"क्रमशः ही तो कह रहा हूँ।"

"देखो बेटा, विचार की अधिक सूक्ष्मता मे पैठ जाना दुर्बलता है।"

"आप मेरी आत्मा-प्रेरणा के लिए क्यो संदिग्ध होकर मेरे भी सन्देह उपजाते हैं ?"

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने समस्त विचार और कार्य की प्रणाली के लिए, अधिकाधिक का अनुमोदन पाना चाहिए।"

"नवीन विचार आरम्भ में अपरिचित और अनभ्यस्त होने से सभी को खलते हैं।"

"नहीं ऐसी बात नही है। विचार का एक सागर है वह अनादि है। उसकी नवीनता और प्राचीनता कैसी ? सत्य की एक ज्योति है, जहाँ पर वह प्रकट किया जायगा। उजाला अवश्यम्भावी है।"

"मैं केवल अपने ही विशुद्ध श्रम पर जीना चाहता हूँ। इससे किसी को कुछ हानि न पहुँचेगी।"

"तुम अपना तो बिगाड दोगे। आत्म-हानि भी तो अपराध ही है ?"

"नहीं चाचाजी, कुछ न बिगडेगा। अन्तस्तल की पवित्र गहराई में मेरे यह विचार की ज्योति जली है। इसके सहारे आगे बढ जाने का मुझे पूरा-पूरा विश्वास है।"

"पग-पग में मनुष्य को सहयोग सहकारिता आवश्यक है, कहाँ तक मनुष्य की छाया बचाओगे ?"

"धीरे-धीरे चाचाजी ! धैर्य से सब-कुछ सम्भव है। बढ़ना मनुष्य का स्वभाव है, उसमें वेग न होना चाहिए, नहीं ठोकर लग जायगी। वेग से बचने के लिए ही तो ग्राम की ओर बढ़ा हूँ।"

"और यदि असहकारिता को ही तुम बढना कहते हो तो एक दिन

तुम्हें ग्राम छोड़कर भी दूर चला जाना पड़ेगा।"

"सहकारिता स्वावलम्बन की शत्रु है। परमुखा पेक्षी होने से स्वावलम्बी जीवन कहीं आदर्श है।"

"तुम अपने ही व्यक्तित्व से उदाहरण ग्रहण करो। समस्त इन्द्रियों की सहकारिता से ही तो तुम आगे बढ़ रहे हो। न केवल आँखें ही तुम्हें बढ़ाती हैं, न केवल हाथ-पैर ही—दोनो की सहकारिता, दोनों का साम्य। खेत खोदकर तुमने दाना उपजा लिया। कुदाल के निर्माण में तो दूसरे का श्रम है। लोहे में एक की सहकारिता है, तो उसकी बेंट में दूसरे की।"

"मैं उन दोनों को भी अपने श्रम में प्रकट कर लूँगा। जीवन एक प्रयोग ही तो है चाचाजी! उसके कटु और मधुर अनुभवों से ही हमारे पथ का निर्माण हुआ है। कोई हानि न होगी। चलने तो दीजिए।"

"लेकिन यदि इस असहकारिता का ज्वर तुम्हें चढ़ता ही गया तो निश्चय ही तुम्हारे पैर फिर यहाँ भी न टिक सकेंगे।"

"हाँ चाचाजी, अपना भोजन मुझे स्वयं ही बनाना पड़ेगा।"

"और रहने का मकान?"

"यह भी चाचाजी!"

"तब तुम्हारा पथ इस गाँव से होकर चला गया है!" द्रवित भाव से चाचाजी ने कहा।

"हाँ चाचाजी, नगर से बढ़ा तो ग्राम में, ग्राम से बढ़ा तो आगे किसी एकान्त कुटीर में।"

"वहाँ से आगे कहाँ?"

कुछ सोचकर पंडितजी बोले—"हाँ, वहाँ से आगे कहाँ? इस समय नहीं बता सकने पर भी, वहाँ कुछ दिन की अवस्थिति स्पष्ट कर देगी उसे।"

"आगे-ही-आगे? कहाँ तक बढ़ते रहोगे? सब विभ्रम है। कहीं

एक स्थान मे स्थिर हो जाओ। काया की अवस्थिति ही मन की अच-लता है और अडिग मन ही मनुष्य की अविनश्वर पूँजी है।"

"तब नगर ही क्यों छोड़ा?"

"नगर को लौट जाने को मैं तुमसे नहीं कहता। सारा गाँव तुम्हारे स्वभाव और व्यवहार से सन्तुष्ट है। और मैं तो तुम्हारी निर्दोष वृत्तियों मे सुख ही अनुभव नहीं करता तुम्हे आदर्श भी मानने लगा हूँ। केवल कुछ तुम्हारे सिद्धान्त, जिनकी पवित्रता में मुझे कोई सन्देह तो नहीं है, पर उनका प्रयोग कष्टकर जान पड़ता है।"

"कष्ट-सहिष्णुता से मनोबल की वृद्धि होती है और कष्टों से बच निकलना रोगों को निमन्त्रण देना है।"

धीरे-धीरे पंडितजी बढ़ चले अपने श्रम के सशोधन की ओर। चाचाजी उनकी केवल गति विलम्बित कर सके उन्हे विरत नहीं।

असौज का महीना था। धरतीमाता पेड़-पौधे और पत्ते-पत्ते में अपने वरदान लेकर खड़ी थी। घने बादल धरती में हरियाली और आकाश मे स्वच्छ नीलिमा उपजाकर तिरोहित हो चले थे।

किसान की प्रसन्नता का ठिकाना न था। परिपूर्णता से विनत धान के खेतों मे वह अपने श्रम को सार्थक और भगवान् की कृपा को साकार देख रहा था।

नदी-नाले, धारे और बावलियो में जल की परिपूर्णता थी। स्थान-स्थान पर नये-नये स्रोत फूटकर बह रहे थे। नवस्नाता प्रकृति अपने सौन्दर्य में निखर उठी थी। दोनो ओर बढी हुई घासों के बीच में मार्ग फिर सुन्दर और स्पष्ट हो उठे थे। सूर्य के ताप ने उनका पानी सुखा लिया था पदांकों ने मिट्टी को समता दे दी थी।

वृक्षों में अखरोट और दाड़िम-अनार झूल रहे थे। पेड़ में ही तड़क-तड़ककर वे भूमि पर गिरने लगे थे। मानो वे मालिको को उन्हें संग्र-हीत कर लेने की चेतना दे रहे थे। क्या यह निःस्वार्थ आत्म-समर्पण

प्रवृत्ति की जड़ता है ? बुद्धि का उपयोग ही क्या मनुष्य की शोषण-वृत्ति का अलंकार है ?

नींबू, नारंगी, माल्टा, गलगले और मतकाकड़ी के वृक्षों में उनके फल, पत्तों के ही रंग पहनकर अपने को छिपाये हुए थे। कदाचित् अपने कच्चेपन से मनुष्यों को बचाने के लिए उन्होंने अपने ऊपर यह रंग का आवरण डाल रक्खा था।

मकानों के निकट और सामने के वृक्षों पर तोरई, करेले, खीरे, लौकी और कद्दू की बेलों पर उनके फल लटक रहे थे। कहीं-कहीं गोशाला और मकानों की छतों तक भी ये बेलें पहुँच गई थीं।

जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही शरद अपनी श्री और सम्पत्ति को अपने शीर्ष मे उठाए दिखाई देता है। चारों ओर प्रतुलता, प्रत्येक दिशा मे परिपूर्णता।

आंगन के सन्निहित खेतों में कहीं मोती जड़े, हाथ जोड़े मक्का के पेड़ खड़े थे तो कहीं मिर्च, बैंगन और टमाटर के पेड़ों की पंक्तियाँ। कहीं मूली, आलू, पिनालू और गंडेरी धरती के भीतर अपनी सम्पत्ति बिछाये हुए थे, तो कहीं भिंडी के पेड़ ऊँचे होकर अपनी सफलता की सूचना दे रहे थे। चूवे के पेड़ों मे लाल और पीली बालें पक चली थीं एं उगल के छोटे-छोटे श्वेत फूलों में एकादशी का फलाहार बढ़ने लगा था।

आँगन के आस-पास सूरजमुखी और गेंदा फूला नहीं समाता था। डलिया, जीनियाँ और गुलबाँक भी। आँगन की दीवारों पर गमले, टीनों और लकड़ी के बक्सों में भी जिरेनियम, सालबिया, एंटरिनम के विलायती फूल भी खिल रहे थे। कौसमियाँ बिलकुल जंगली होकर पहाड़ों पर भी अपने श्वेत और गहरे लाल रंग की अनेक माध्यमिक छायाओं में अपना रूप दिखा रहा था।

खेतों में झुंगर और कौणी के ऊँचे पेड़ों में प्रत्येक दिशा की ओर लटकती हुई लम्बी-लम्बी बालें नृत्य-बाला के मुक्त कुन्तलों-सी दीख रही थीं। स्वयंवरा वधू-सी अन्न-भार से विनीता शस्य की खेती पवन

के प्रवाह पर लहलहा रही थी। भट्ट, गहन, रैंस और उड़द की दालों के कोष भी बेलों पर पक चुके थे, केवल मुट्ठी बाँधे हुए मडुवे की बालें अभी बिलकुल कच्ची थीं।

पंडितजी खेतों का निरीक्षण करके घर को लौट रहे थे। मार्ग में उन्हे गाँव के लोहार का घर मिला। लोहार अपनी भट्ठी सुलगाकर कुछ लोहा पीट रहा था।

गाँव का वह अछूत लोहार बीज बोने से पहले खेतों में हल भी चलाता था, खेती के तैयार होने पर हँसियों में धार भी चढ़ाता था; ग्राम की आबादी के लिए मकान की दीवारें भी चिनता था और निषिद्ध प्रवेशो के लिए उनमें चौखट तथा द्वार भी जडता था। ग्राम के उत्सवों को वह अपने गीत-वाद्य से सजीवित करता था; विवाह, जनेऊ और जन्म के हर्ष को ढोल, नगाड़े, तुरही और भेरी बजाकर मुखरित करता था। ग्राम-जीवन के लिए इतनी उपयोगिता से भरा वह व्यक्तित्व, क्यों उसे अछूत की संज्ञा देकर परित्यक्त कर दिया गया? ग्राम मे क्यों उसे सबसे निष्कृष्ट स्थान अपना घर बनाने को दिया गया? सारा दिन शुद्ध श्रम में बिताने पर भी क्यों माँग-माँगकर ही उसे अपना पेट भरना पडता है?

पंडितजी को ये प्रश्न विकल कर देते थे। वह अछूतों के साथ निरन्तर सौहार्द की स्थापना करते रहते थे। वह कभी उनकी छाया बचाकर नहीं चलते थे। कभी उनसे दृष्टि नहीं चुराते थे। जो भी, जहाँ भी मिल जाता, उससे अवश्य ही कुछ-न-कुछ बातें कर लिया करते थे। कभी-कभी उनके आँगनो में जाकर बैठ भी जाते। कोई बीमारी में पडा हो तो उसके प्रतिकार के उपाय भी बताते। उनकी गार्हस्थिक उलझनों को भी सुलझाते और उन्हें स्वच्छ रहन-सहन का मूल्य सुझाते तथा दीनता में भगवान् की निकट अवस्थिति का रहस्य भी समझाते। चाचाजी का बरताव भीउन लोगों के साथ उचित ही था, परन्तु वह इतना निकट सम्पर्क नहीं रखते थे।

पंडितजी भट्टी के निकट की एक दीवार पर जाकर बैठ गए।

"नहीं महाराज, कपड़े मैले हो जायँगे। यह बोरा बिछा देता हूँ, आप क्षण-भर के लिए उठ जाइए।" लोहार अपना काम छोड़कर उठ गया था।

लोहार अपने जन्म-जात अभ्यास के कारण पंडितजी का स्पर्श बचाना चाहता था, परन्तु पंडितजी ने जान-बूझकर उसके हाथ से बोरा खींचकर स्वयं बिछा लिया। "एक हँसिया मुझे भी बनाना है,।" उन्होंने कहा।

"लोहा ले आइए तो अभी बना दूँ," कहकर उसने अपने आसपास देखा। "एक टुकड़ा है मेरे पास। कहिए तो इसी का बना दूँ।"

"नहीं, तुम्हारी वस्तु ऐसे ही लेना ठीक नहीं।"

"दाम दे दीजिएगा।"

"कदाचित तुम्हे ज्ञान नहीं, मैंने सिक्कों का व्यवहार छोड़ दिया है।"

"क्यो ?" लोहार ने चौंककर उनको निहारा।

"यह अनेक बुराइयों की जड़ है।"

"बुराइयों की जड ! नहीं महाराज, आदान-प्रदान का सुभीता, नाप-तोल की समता है यह।"

"कुछ नहीं यह एक कल्पित मान है। कलह का कारण, लालच की जड़, शोषण का साधन, चोरों का आकर्षण और पूँजीपतियो का स्तूपीकृत अत्याचार। छोडो इसकी बात !"

"तो इसके बदले में कुछ अनाज दे दीजिएगा।"

कुछ सोचकर पंडितजी बोले—"ऐसा हो सकता है। यद्यपि पूरी निर्दोषता तो इसमें भी नहीं है।"

"तो ऐसे ही ले लीजिए।"

"यह शनिश्चर का दान ऐसे ही न लिया जा सकेगा।"

"जैसे भी आपकी इच्छा हो।"

"लेकिन यह हँसिया मै ही स्वय बनाऊँगा।"

"आप ही बनाएँगे ?" लोहार चौक पड़ा।

"हाँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि अपने ही श्रम से मैं अपने जीवन का निर्माण कर रहा हूँ। मै अपने अन्न के लिए स्वयं खेत खोदूँगा, स्वयं ही अनाज उपजाऊँगा और स्वयं ही लवाऊँगा। लवाने के लिए हँसिया भी अपने ही श्रम से तैयार करूँगा।"

"इससे लाभ क्या होगा ?"

"मैं समझता हूँ, यदि मनुष्य अपने मे परिपूर्ण हो जायगा तो सारा ग्राम स्वयं ही आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेगा, परापेक्षी न रहेगा।"

"लालटेन और दियासलाई की डिबिया भी आप बना लेंगे ?"

"यही पचास साठ वर्ष से तो वह चली है। जब पहले दियासलाई नहीं थी तो क्या हमारे चूल्हों मे आग नहीं जलती थी ? जब पहले लालटेन नहीं थी, तो हमारे दीपकों मे प्रज्वलित शिखा न थी क्या ?"

"बरतन भी आप बना लेंगे ?"

"जो कुछ न बना सकूँगा, उसका प्रयोग छोड़ दूँगा। जीवन की जटिलता उतनी ही कम हो जायगी। मनुष्य की आवश्यकता कुछ भी नहीं है। इस अभ्यास के जाल को उसने स्वयं ही बुनकर अपने को बन्दी बना रक्खा है।

"मकान भी बना लेंगे ?"

"हाँ, धीरे-धीरे; पूरे लक्ष्य तक पहुँचने में कई वर्ष लग जायंगे।"

"सभी ग्रामवासी ऐसा करने लगेंगे ? कोई सरकारी आज्ञा ऐसी हुई है क्या ?" लोहार ने सचिन्त होकर पूछा।

"सरकारी आज्ञा क्यों होने लगी ? सभी ग्रामवासी, उनकी मैं कुछ

नहीं जानता हूँ; मैं तो अपनी जानता हूँ, अपना स्वामी हूँ। मै ऐसा ही करूँगा।"

"आप पढ़े-लिखे हैं।"

"जो पढ़ाई-लिखाई मनुष्यता या श्रम मे भेद उपजाती है, वह घोर स्वार्थपरता है और स्वार्थपरता से अधिक मनुष्य के विकास का शत्रु दूसरा नहीं है।"

एक और किसान आकर उनकी बात सुनने लगा था। उसने जिज्ञासा की—"पंडितजी, आप हँसिया बना भी लें, लेकिन उस्तरा नहीं बना सकते।"

"हानि क्या हो जायगी? उस्तरा नहीं बन सकेगा तो दाढ़ी बढ़ा लूँगा। पहले समय में क्या लोग दाढ़ी नहीं रखते थे? वह तो एक स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता ही सौंदर्य है, वही सुख भी है।"

"पंडितजी, आप तो हम अछूतों के प्रति समवेदना रखते है। फिर यह व्यवहार समझ नहीं पड़ता," लोहार बोला।

"क्यों?" पंडितजी ने पूछा।

"आप लोहा पीट लेंगे; आप मकान चिन लेंगे; आप कपड़ा बुन लेंगे; आप ही खेत खोद लेंगे तो आपने अछूत के सारे पेशे ही छीन लिये। फिर यह उसका कैसा उद्धार हुआ? वह कहाँ जायगा? कैसे उसका भरण-पोषण होगा?"

"सुनो, श्रम के असमान बँटवारे ने ही धन का विषम बटवारा कर रक्खा है। मैं चाहता हूँ, प्रत्येक मनुष्य अपने सभी छोटे-बड़े काम स्वयं करे। श्रम के भेद ने ही वर्णों की व्यवस्था कर दी है। यदि हम अपने-आप सब काम स्वयं करने लग जायँगे तो वर्ण-व्यवस्था अपने-आप मिट जायगी। इसलिए न समझो मैं तुम्हारा पेशा छीन रहा हूँ। मैं अपना पंडिताई का पेशा भी तुम्हें देने को तैयार हूँ।"

लोहार ने संड़सी से पकड़े हुए लोहे को गरम होने के लिए फिर आग पर रख दिया और पंडितजी की ओर कौतुकपूर्वक देखा।

"हाँ, हाँ, कोई सन्देह की बात नहीं है। तुम मेरे निकट जन्म-शुद्ध हो। मैं तुम्हारे गले में जनेऊ और कान में मन्त्र देकर तुम्हें अन्य ग्रामवासियों के लिए भी शुद्ध कर दूँगा।"

"नहीं पंडितजी, सन्ध्या-पूजा हमारा कर्म नहीं है।"

"क्यों नहीं है? भगवान् पर सबका अधिकार है। धन-धरती पर न हो, ईश्वर को चाहे जो अपने वश में कर सकता है।"

"नहीं। जैसे बड़ा छोटा काम करने से पतित हो जाता है ऐसे ही छोटा बडा काम करने से पतित हो जाता है। हम पढ़े-लिखे नहीं, मन्त्र कैसे पढ़ सकेंगे?"

"मन्त्र भावना के लिए केवल एक शब्दों का जाल-मात्र है। मैं तुम्हें धीरे-धीरे समझा दूँगा। भावों का रहस्य जान लेने पर पंडिताई कुछ भी दूर न रहेगी तुमसे।"

"बडे पंडितजी को यह बात मान्य है?"

"ऐसे दुराग्रही नहीं है वह। फिर सत्य अपने प्रभाव से ही अपने विजय की दुन्दुभी बजाता है। मैं इस पार्थिव जगत से मनुष्य के भावात्मक जगत को बडा मानता हूँ। यदि मनुष्य का भाव जागृत हो जाय तो उसके सामने पदार्थ का अभाव कोई वस्तु ही नहीं रह जाता। भाव का अभाव ही तो सारे अभावो का जनक है।"

लोहार कुछ न समझ सका, बोला—"यह तो बहुत दूर की बात जान पड़ती है। लोहा पीटने मे कहीं आपके हाथ-पैर जल गए तो?"

"बहुत सतर्क और सावधान होकर ही कार्य करूँगा।"

पास बैठा किसान बोला—"ऊँचा सरलता से गिर सकता है, पर गिरे हुए को ऊँचा होने में बहुत समय और परिश्रम आवश्यक है।"

"मैं नहीं मानता यह बात," पंडितजी बोले।

कुछ देर बाद लोहार ने अपना आसन पंडितजी के लिए रिक्त कर दिया। पंडितजी उसमें आसीन हो गए। उन्होंने लोहा कोयलों के

बीच में खोंस दिया। लोहार ने पहिए की धौंकनी की मूँठ चलानी आरम्भ की।

चीड का बल्कल आग में चिड़चिड़ा उठा और चिनगारियाँ अनार-सी फूट पड़ीं। पंडितजी धौंकनी पर हाथ रखकर उसे अपनी ओर खींचने लगे—"नहीं, अग्नि भी मेरे ही परिश्रम से सुलगेगी।"

लोहार को पंडितजी का आग्रह मान लेना पड़ा। पंडितजी मूँठ पकड़कर घुमाने लगे पंखे को। हठात् उन्होंने उस पर से हाथ खींच लिया।

"क्या हुआ ?" लोहार ने पूछा।

"इस धौंकनी में पहिया है।"

"तो क्या हानि हो गई। यह तो नये ढंग की धौंकनी है। मुई खाल की श्वास से तो कहीं बढ़कर है। खाल में हवा भरो, फिर उसे बन्द करो फिर दबाओ, 'स्वाँऽ स्वाँ ऽ' फिर हवा भरो, फिर दबाओ। जितनी देर मे हवा भरो, उतने मे कोयले बुझ जायं। यह पंखा, इसके गोल चक्कर से अटूट धारा हवा की बहती है कोयलों पर।," लोहार बोला।

"नहीं भाई, मैं तो इसे अशुद्ध समझता हूँ।"

"चमड़ा कहाँ है इसमें ?"

"चमड़े की साँस अधिक स्वाभाविक है; इसी से अधिक शुद्ध है। पहिया प्रकृति का प्रतियोगी है और हमें आलसी भी बना देता है और लालची भी।"

दोनों श्रोता पंडितजी की बात नहीं समझ सके। लोहार ने पूछा—"तब क्या होगा ?"

एक टीन का टुकड़ा पड़ा था निकट ही। पंडितजी उससे आग सुलगाने लगे।

लोहार कहने लगा—"ऐसे लोहा लाल न होगा पंडितजी।"

"हो ही जायगा। धैर्य, लगन और श्रम से सब कुछ सम्भव है।"

"हु मेहनत पड़ जायगी।"

"वही श्रम की शुद्धि है। श्रम को घटाने का उपाय ही तो उसे अशुद्ध कर देता है।"

"हमारी तो कुछ समझ में नहीं आता, क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध है। आपके बाप-दादा चमड़े को अशुद्ध कहते थे और लोहे की छूत नहीं मानते थे। आप कहते हैं, लोहा अशुद्ध है और चमड़ा शुद्ध। एक ही पीढ़ी में यह आकाश-पाताल का अन्तर? एक बात तो बताइए पंडितजी, लोहे की आपने छूत मानी लेकिन टीन की नहीं।"

"टीन हाथ में है। हाथ की उपज मशीन की उपज से शुद्ध है।"

किसी प्रकार लोहा गरम करके पंडितजी ने उस पर हथौड़ा चलाना आरम्भ किया। लोहार अपनी दृष्टि और वाणी से पंडितजी का मार्ग सरल करता जा रहा था।

पंडितजी कभी लोहा गरम करते, कभी उससे पीटते। बहुत समय बीत गया। वह बोले—"तुम्हारे कार्य में विक्षेप पहुँचा है। तुमने मुझे जो लोहारी की दीक्षा दी है, उसके बदले मैं तुम्हें मन्त्र की दीक्षा दूँगा।"

हँसिया बन गया अन्त में। पंडितजी बोले—"यह तो रूसी झंडे का-सा हँसिया हो गया।"

लोहार उससे परिचित न था, बोला—"काली माई के हाथ का-सा खाँडा।"

नौ

. . . .

मोटर में नौकरी करने के वर्ष-भर पश्चात् जिसने भी लछमियाँ को देखा, नहीं पहचान सका। वेष, बोली, रंग-ढंग, शैली-फैशन शकल-सूरत सभी कुछ बदल गया था उसका।

आचार-विचार, वस्त्र-वेश, रहन-सहन की नवीनता सीख लेने की विचित्र शक्ति निहित थी लछमियाँ में। निरक्षर होने पर भी कल्पना का समुचित विकास उसके भीतर विद्यमान था। पंडितजी के स्कूल के एक वर्ष ने उसके विचारों में निःसन्देह आकृति उपजा दी थी। पत्र पर किसी भी रूप या संकेत में विचारों का अप्राकट्य उसके लिए सहायक ही हुआ था। उसने उसके विचार की एकमुखी उन्नति साधी थी।

कहते हैं लेख लिखने वाला भाषण नहीं दे सकता और वाकपटु लिख नहीं सकता। बोलचाल की जो दक्षता पंडितजी ने लछमियाँ में जगाई थी, वह हमदम की संगति में चलने-फिरने लगी। भाँति-भाँति की जनता के संसर्ग मे आया वह मोटर के यात्रियों के रूप मे। देश-विदेश का उसको ज्ञान हुआ। वह अखबार नहीं पढ़ सकता था, परन्तु निरन्तर समाचारों पर टीका-टिप्पणी सुनता था और साहस तथा निश्चय के साथ भारत की केन्द्रीय एवं राज्यों की हलचलों पर ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी बहस करने को तैयार रहता था।

बहुत दिन तक उसके साथ रहने पर भी कोई यह भेद जान नहीं

सकता था कि वह निरक्षर है। यदि किसी ने उसके सामने उससे यह कह दिया, तो लछमियाँ मरने-मारने को तैयार हो जाता था। वह सगर्व पंडितजी के स्कूल का उल्लेख करता और कहता—"मैने ऐसा स्कूल पास किया है, जो बडे-से-बडों को नसीब नहीं है। बात को समझकर दिमाग मे रखना और वहाँ से निकालकर प्रकट कर देना, यही तो विद्या है। हमारे पंडितजी लिखे-पढों की दुनिया को जालसाजी की दुनिया कहते थे, अखबारों और पोथियों को थोथा आडम्बर।"

क्यो होंगी उसकी आँखे दुर्बल ! चश्मा पहनकर आगे बढ जाने का मार्ग दूर तक उसकी मोटर में दिखाई देगा, ऐसा उसने समझ लिया। चश्मे का एक एजेंट यात्री के रूप में फँस गया था। चुटकियों में मित्रता बाँध लेता था लछमियाँ किसी से भी और एजेंट लोग भी उस कला मे कुछ कम प्रवीण नही होते।

"एक चश्मे की जरूरत तो मुझे भी है। पहना दो तो एक यादगार आपकी मेरे पास रह जायगी।"

"आपके दाम पहनाएँगे, मैं कौन हूँ ? क्या नम्बर है ?"

"नम्बर ?" लछमियाँ बोला, "नम्बर दो और क्या ? काना थोडे हूँ मैं ?"

एजेंट बात समझ गया। कहने लगा—"पढने का चाहिए या दूर तक देखने का ?"

"दूर तक देखने का," लछमियाँ परिहास करने लगा, "मोड के ओट पर की मोटर भी दिखाई दे जाय जिससे एक्सीडेंट बचा लूँ। इतने आदमियों की जिन्दगी हथेलियो पर लेकर चलना पड़ेगा साहब। हमदम साहब कहते तो हैं मुझे ड्राइवरी आ गई। सिर्फ लायसंस मिल जाने की देर है।"

"शून्य नम्बर का ले लो। सबसे ठीक रहेगा। आँखों में कोई खराबी तो नहीं है ? आँखों से दिखाई तो ठीक-ठीक देता है न ?"

"आँखों से तो ठीक ही दिखाई देता है, केवल बिना चश्मे के आँखें ठीक नहीं दिखाई देतीं।"

गाडी चलने मे अभी कुछ देर थी। यात्री भर रहे थे, गाडी पूरी नही हुई थी। एजेंट ने चश्मों का बक्स खोलकर लछमियाँ के चकाचौंध उपजा दी।

नाक के नीचे की उगती हुई काली रेखा पर उस्तरा चलाने लग गया था लछमियाँ। नाक के ऊपर चश्मे की चमकती हुई डंडी रख लेने के लिए वह अधीर हो उठा। उसने एक के बाद दूसरे चश्मे पर हाथ रक्खा। एक चश्मा आँखो पर जमाने के बाद उसने कहा—"दर्पण नहीं है तुम्हारे पास ?"

"दर्पण क्यों चाहिए ?"

"दुनिया कैसा देखेगी मुझे, यह देखने को।"

"चश्मे का मतलब तो है आप दुनिया को कैसा देखेंगे ड्राइवर साहब !"

"मैं तो ठीक ही देखता हूँ। रोग तो दुनिया की दृष्टि मे है। मैंने पंडितजी का स्कूल पास किया है, पर दुनिया मुझे पढ़ा-लिखा मान लेने को तैयार नहीं। अभी आता हूँ," कहकर लछमियाँ एक पान-वाले की दूकान पर चला गया और उस दूकान पर लटकने वाले दर्पण में अपना रूप निहारते हुए सोचने लगा —"अब कोई क्या शक कर सकता है, मेरे ऊपर ! बढ़ चला; लछमियाँ बढ़ चला !"

पान देते हुए पनवारी बोला; "है, है ! आज तो चार आँखें हो गईं तुम्हारी।"

"ठीक दिखाई दे रहा हूँ ?" कहकर फिर लछमियाँ ने दर्पण में निहारा।

"हाँ, हाँ ! प्रोफेसर जैसे !"

"और प्रोफेसर जब पहाड़ की हवा खाने के लालच में मेरी मोटर में बैठ जाता है तो सच कहो क्या उसके जीवन-मरण का प्रश्न मेरी

मुट्ठी मे नही समा जाता। अब तो सीधी-सीधी सडकों पर ही नहीं, मोडो पर भी मै उस्ताद के हाथ से मोटर का चक्का अपने वश मे कर लेता हूँ।"

"किसकी मुर्गी बनाई ?"

"मुर्गी क्या बनाई, नगदनारायण खर्च किये है यह," कहकर लछमियाँ हमदम के पास उनकी स्वीकृति के लिए गया।

"क्या लच्छन है रे लछमियाँ यह तेरे ?"

"आँखो का बीमा कराया है उस्ताद !"

"चल, चल, सवारियाँ बिठा। देर हो रही है। भगवान् की दी हुई आँखों का भरोसा नहीं, चश्मे से फोडेगा उन्हे ?"

"नंगी आँखो की रक्षा के लिए। नंगे पैरो पर जूता क्यों पहनते हैं लोग ? खरीद लूँ उस्ताद ?"

"आँखे तेरी, पैसा तेरा। मुझसे क्या पूछता है ?"

वह तो नहीं, हाँ उसी फ्रेम का दूसरा चश्मा चढ ही तो गया लछमियाँ की नाक पर। कोट-पतलून, हाथ पर घडी, पैर मे बूट, सिर पर तिरछी माँग, नाक पर चश्मा, मूँछो पर सेफ्टी, मुँह मे सिगरेट और दाँतो पर बुरुश। क्या शेष रह गया फिर लछमियाँ के आगे बढ जाने मे ?

मेज पर बैठकर होटल मे खाना खाता है, रूमाल से हाथ पोंछ-कर मोटर पकड़ लेता है बखत में, हिन्दुस्तान के दोनो टुकडो पर भीषण भाषण दे डालता है; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गाँठो को सुलझाता है, बर्थ-कंट्रोल से लेकर दाने-पानी के कंट्रोल तक का इतिहास सुनाता है, चोर-बाजारी के हथकंडों की विवेचना भी करता है और रात को सोते-सोते स्वयं पूँजीपति बन जाने के सपने भी देखता है, कभी गीता के विराट् ब्रह्म की चर्चा करता है तो कभी परमाणु बम का भी वर्णन करता है; अब क्या संशय है लछमियाँ के आगे बढ़ जाने में ?

वह कहता है—"साहब चले गए यहाँ से, साहबी ठाठ थोड़े जा सकता है? उसी ठाठ पर तो आगे बढ़ने की कुंजी लटकनी है। नहीं तो कौन किसका कहना मानता है?"

साहबी खान-पान, रंग-ढंग, चाल-ढाल, अकड़-फूँ, कोट-पतलून सब समावेशित हो गए थे लछमियाँ मे। केवल एक टोप की कसर थी। टोप को वह सर्वगुण-सम्पन्न चाय की उपमा देता है। सभी ऋतुओं में उपयोग की वस्तु; गरमी मे धूप, बरसात मे बारिश और जाड़ों में हिम और ठंडी हवाओ से रक्षा करती है, चाय शरीर के भीतर फुरती उपजाती है तो टोप शरीर के ऊपर फुरती पैदा करता है। लोग रास्ता छोड़ देते हैं, आसानी से आगे बढ़ते जाइए। टोप पहनकर जो कुछ कहिए उसमें शक्ति पैदा हो जाती है और कोई बात टाल नहीं सकता। जिधर चले जाइए, लोग उठ-उठकर अभिनन्दन करने लगते है।

टोप पहन लीजिए। भीड़ में पहले सौदा या टिकट मिल जायगा। रेल मे दस सहयात्री खड़े-ही-खड़े यात्रा कर लेंगे पर सोते हुए टोपवाले को जगा लेने की उनकी हिम्मत हो नहीं सकती। लछमियाँ कहता है—"आगे बढ़ जाने के तोप और टोप यही तो दो साधन है। प्रत्येक मनुष्य तोप तो क्या बन्दूक भी नहीं रख सकता, पर टोप, इस पर केवल पैसे के प्रतिबन्ध के सिवा और कोई रोक-थाम नहीं।"

"तोप और टोप! क्या अन्तर है दोनों मे? मै कहता हूँ एक भी अक्षर का अन्तर नहीं है। दाँतों से जरा-सा एक-दो सूत जीभ ऊपर तालू पर मारिए तोप ही टोप हो जायगी। विदेशी इन्हीं की सहायता से भारत में बढ़े थे, और बढ़ने वाले अब भी बढ़ ही रहे हैं।"

ड्राइवर होते ही टोप पहन लेने का निश्चय किये हुए है लछमियाँ। क्लीनर होने के कारण गाड़ी की सफाई के सारे हाथ उसे अपने कपड़ों ही पर तो पोछने पड़ते हैं। टोप पहनकर यदि वह उससे उजला न रख सका तो फिर लाभ ही क्या?

नये चश्मे से विभूषित होकर लछमियाँ गाड़ी पर आया। एक बाबू

साहब अपना लगेज भूमि पर रक्खे लछुमियाँ से बोले—"क्यों साहब, क्लीनर कहाँ है ?"

लछुमियाँ बाबू साहब को देखकर विजय के उल्लास मे हँसा। मोटर की छत पर चढते हुए बोला—"आपको यह बिस्तर ही तो रखवाना है न मोटर मे, लाइए मैं रख देता हूँ।"

लछुमियाँ ने बिस्तर ऊपर जमा दिया। बाबू साहब ने उसे थैंक्स भी दिये और चाँदी के डिब्बे में से सिगरेट भी। लछुमियाँ मन मे बोला—"और जब सिर पर टोप चढ़ जायगा तो फिर ?"

हमदम ने भोंपू बजाया—"चल भाऽऽई।"

'बैठ गए सब ?" लछुमियाँ ने जिज्ञासा की। वह मोटर के अगले भाँग पर गया और हमदम की सीट के नीचे से पानी का टीन निकालने लगा।

हमदम ने आदर प्रकट करके उसे अभिवादन किया। लछुमियाँ संकुचित हो टीन निकालकर चला गया। इंजन में पानी भरकर वह हैंडल देने लगा।

हमदम बोला—"चश्मा तो निकाल लो प्रोफेसर साहब ! गिर गया कहीं तो अभी पैसे वसूल हो जायँगे।"

लेकिन न लछुमियाँ ने उसे उतारा ही और न वह गिरा ही।

गाडी चली और हलद्वानी से चलकर कुछ देर उसने काठगोदाम मे दम ली और फिर तिपनियाँ ही जाकर चाल तोडी। हमदम ने हलवाई की दूकान के निकट मोटर रोक दी। यात्री उतरने लगे। कोई चाय-नाश्ते के लिए और कोई छोटी बडी शंकाओं के समाधान के लिए तथा कोई बिना किसी मतलब के भी।

एक यात्री जिसे तिपनियाँ ही उतर जाना था, लछुमियाँ से बोला—"नारंगी रंग का एक ट्रंक निकाल देना ऊपर से।"

लछुमियाँ नाक पर चश्मा जमाता हुआ मोटर की छत पर चढ़ा। छत से उसका सिर उठा ही था कि हलवाई की दूकान के दोतले ने

खींच ली उसकी दृष्टि। कंधों पर बड़ी उदासीनता से अपनी हरी साड़ी का छोर लटकाए एक सुन्दरी खड़ी थी। साड़ी पर चमक रहे थे उसके सुनहरी फूल और साड़ी के पीछे खिल रहा था लाल गोट से युक्त उसका नारंगी जंपर।

रंग रंग मे मिल गया और ट्रंक नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व लछमियाँ के मस्तिष्क में न जाने कहाँ घुल गया।

बाला नंगे सिर अपनी वेणी गूँथ रही थी। लछमियाँ ने देखा, टक बाँधे वह सुन्दरी उसी को निहार रही थी। हृदय में न-जाने उसने कितने पूर्व परिचय छिपा रक्खे थे।

लछमियाँ सोचने लगा, इसे कहाँ और कब देखा है। वह छत पर चढ़ा, दृष्टि उधर ही चिपक गई थी उसकी। उसे हार मानकर अपने नेत्र विनत कर देने पड़े—"कौन है यह? मैंने कभी नहीं देखा है इसे। फिर इतने मोह से इतनी देर तक इसका मुझे देखने से मतलब?" उसने अपनी पतलून की जेब से एक मैला रेशमी रूमाल निकाला और चश्मा उतारकर उसके लैंस साफ करने लगा। एक क्षण ही तो उसकी आँखें हटी थीं, उसी मे एक कल्प बिता गया लछमियाँ।

उसने फिर साहस जमाकर उस सुन्दरी की ओर निहारा। केवल हाथ ही गतिशील थे उसके और उसी भावुकता में वह लछमियाँ पर आँखें गड़ाए खड़ी थी। उसने बँध-चुके जूड़े को फिर खोल दिया था और फिर वह नागिन-सी लटों मे ग्रन्थियाँ उपजाने लगी थी।

अपनी जगह से उठकर दूकान की ओर बढ़ते हुए हमदम की भी दृष्टि उधर ही खिंच गई। 'कोई यात्री होंगे,' मन में कहकर वह हलवाई के समीप के रिक्त बेंच पर बैठ गया, पर अपना कौतूहल मिटा न सका।

हमदम ने दूकानदार से पूछा—"ऊपर कौन आये हैं आज तुम्हारे? देश को जायँगे या पहाड़ को?"

हलवाई हँसा—"ये न देश जायँगे न पहाड, कहीं न जायँगे, यहीं रहेगे।"

"मजाक क्यों करते हो?"

"सच ही कह रहा हूँ हमदम भैया, तुम मुझसे उमर मे इतने बडे, तुमसे हँसी क्यो करने लगा?"

धीरे-से हमदम ने पूछा—"कौन हैं?"

एक ग्राहक ने बाधा दी—"नीबू कितने-कितने के हैं?"

हलवाई ने उत्तर दिया—"चार-चार आने।"

"चार आने।" होठ काटकर ग्राहक चलता बना।

"बाईजी है," हलवाई ने हमदम का समाधान किया।

"कौन बाईजी हैं?" हमदम की उत्सुकता बढ़ उठी।

"यह श्रीमती परुली बाई हैं।"

हमदम समझ गया। नाम सुन रखा था उसने उसका। पर फिर भी उसका एक संशय अभी शेष ही था—"यहाँ क्यों आ गईं नगर से?"

"यहीं रहेगी। अब नगर में रहने का हुक्म नहीं है इनको।"

हमदम घबराया—"अरे बाप रे! यह नगर का बबाल ग्राम की ओर किसने हाँक दिया? इस मोटर की सडक पर, जहाँ से हर रोज बिचारा हमदम अपनी रोजी के दाने बीनता हुआ आता-जाता रहता है। वैसे ही वह गरीब बदनाम है। क्यो, हुक्म क्यो नहीं?"

"बस नही! पंचो ने मीटिंग करके पास कर दिया हुक्म नहीं। फिर बोल कौन सकता है? और म्युनिसिपैलिटी ने एक उपनियम बनाकर अपनी सीमा के बाहर निकाल दिया इन सबको।"

"और कहाँ गईं?"

"चली गईं होगी। नगर मे जगह न मिली तो फिर गाँवों की ओर ही तो। एक तिपनियाँ के भाग में भी लिखी होगी। कम है?"

"क्यो, इनका कसूर क्या है?"

"इन्होंने प्रेम का मोल-तोल किया है।"

"तो समाज ने इसे नीच बनाकर अपना बदला ले लिया? बाजार मे और भी तो चोर बसते हैं। क्या वे सत्य, धर्म और न्याय का सौदा नहीं करते? फिर बाजार की कालिमा यही क्यों समझी गई?"

"तुम्हें क्या पड़ी है हमदम! तिपनियाँ की रौनक बढ़ेगी।"

"तुम खुदगरज हो। सौदा बिकेगा तुम्हारा भी। इसलिए तुमने सिर पर बसा लिया इसे।"

"क्या करता! मेरे पैरों पर सिर रखकर रोने लगी। बेचारी नगर से निकाल दी गई। मुझे दया आ गई। मकान खाली था; दे दी जगह। दूकानदारी करनी नही हुई मुझे? वेश्या है तो क्या हुआ? शरीर बेचती है केवल, मन का सौदा तो नहीं करती? वेश्या है, चोर तो नहीं है? मैंने बड़ी सच्ची और नेक वेश्याएँ देखी हैं।"

"तुम बड़े पक्के व्यापारी हो। परुली के नागरिक दोस्त उसके दरवाजे का रास्ता टटोलते हुए आने लग गए होंगे यहाँ तक। अब उनके सिगरेट के पैकेट, चाय के गिलास और पान के पत्ते तुम्हारी ही दूकान से जायँगे। अच्छा एक गिलास बढ़िया चाय तो बनाओ। कहाँ गया रे लछमियाँ, खायगा कुछ?" हमदम ने इधर-उधर दृष्टि की। उसे कुछ पता न था कि उसका क्लीनर मोटर की छत पर पतंग उड़ा रहा है।

फिर लछमियाँ को आँखें नीची कर लेनी पड़ीं। वह नीचे के लोगों की दृष्टि बचाकर एक बक्स के ऊपर उस सुन्दरी की खिड़की की ओर मुख करके बैठ गया। उसने फिर उसे निहारा। इस बार वह सुन्दरी मुख मे एक हलकी मुसकान खींचकर बिजली के वेग से घूम गई और मकान की ओट में चली गई।

लछमियाँ मन में कहने लगा—"चश्मा पहनते ही यह किधर बढ़ चला मैं? जादू-सा डालकर यह किधर छिप गई? कदाचित् कोई धोखा हो गया इसे। मैंने ऐसी सुन्दरी कभी कोई देखी ही नहीं।"

लछमियाँ की नस-नस मे एक मधुर रागिनी बज उठी। उसने धीरे-धीरे सीटी मे सिनेमा के सस्ते-से-सस्ते गीत के सुर बजाने शुरू किये। सुन्दरी फिर न दिखाई दी। लछमियाँ सोचने लगा—"जरूर मकान की किसी दराज के बीच से वह मुझे देख रही है।"

लछमियाँ के स्वप्न का जाल तोड दिया उस यात्री की पुकार ने—"क्यो भाई ! कहाँ गायब हो गए ? नारंगी रग का ट्रंक नही उतारा अभी तक ?"

लछमियाँ सँभला, उठ खडा हुआ। उसने खिडकी की ओर देखा, सुन्दरी लौटकर नहीं आई थी। लछमियाँ ने ट्रंक उठाकर उस खिडकी की ओट पर लटका दिया—"लो, अपना ट्रंक पकडो।"

यात्री अपना ट्रंक भूमि पर उतारकर चलता बना और लछमियाँ फिर भी छत पर ही मँडराता रह गया। उसने छत पर के समस्त ट्रंक और बिस्तर इधर-के-उधर रख दिए बडा विलम्बित गति से; लेकिन वह सुन्दरी उसे नहीं दिखाई दी।

हमदम ने फिर पुकारा—"लछमियाँ रे !"

घबराकर लछमियाँ ने उत्तर दिया—"हाँ उस्ताद आया, लगेज निकाल रहा हूँ।"

"कैसा लगेज निकाल रहा है ? एक ही ट्रंक तो था।"

"शेष को जमाकर रख रहा हूँ। कोई लुढक गया तो ?" कहकर लछमियाँ मन मे कहने लगा—"तो क्या वह केवल एक विचार था ? मै धोखा खा गया ? कोई परीक्षा थी मेरी ? इस मकान मे कोई भूत-प्रेत तो नहीं बस गए। दिन में, भरी दुपहरी मे ?"

लछमियाँ घोर निराशा मे धीरे-धीरे मोटर की सीढ़ी पर उतरने लगा, उसकी दृष्टि उसी खिड़की पर टँगी थी। दो-तीन सीढ़ियों पर वह उतरकर जब चौथी सीढी को अटकल से पैर के लिए पकड रहा था तो फिर खिडकी पर चन्द्रमा-सा निकल आया।

लछमियाँ जहाँ-का-तहाँ रुक गया। चश्मा निकालकर फिर पोंछने

लगा। सुन्दरी ने फिर उसे देखा, वह फिर मुसकाई और फिर पीठ फिराकर चल दी।

"नही, कोई धोखा नहीं है," ऐसा पक्का आश्वासन पाकर लछमियाँ उतरकर हमदम की बैंच पर जाकर बैठ गया। उसका मुँह उतर गया था और उसने अपने एक हाथ मे पतलून की पेटी पकड़ रखी थी।

"खाओगे नहीं कुछ ?"

"नहीं उस्ताद !" लछमियाँ ने कराहते हुए मुख बिगाड़कर कहा।

"क्यों ? रोते क्यों हो ?"

"पेट मे दरद होने लगा।"

"कब से ?"

"हलद्वानी से ही शुरू हो गया था। इस समय बढ़ गया।"

"रात बकरा खा गए थे तुम। अकेले खाना ऐसा ही होता है," हमदम बोला," गरम-गरम चाय पी लो।"

"पी लूँगा," बड़ी अधीनता से लछमियाँ ने कहा।

"अजवायन भी है ?" हमदम ने दूकानदार से पूछा।

हमदम को दूकानदार से बातो में उलझा समझकर लछमियाँ को अवसर मिला। उसने दो तले पर दृष्टि की।

और उस दृष्टि की आकुलता को हमदम ने पकड़ लिया, जब उसने बीच ही मे लछमियाँ की ओर गरदन फिराकर उससे पूछा—"आज..."

लछमियाँ हड़बड़ाकर उस्ताद के मुखाभिमुख हुआ। हमदम ने अपना वाक्य तोड़कर स्वयं उस खिड़की की ओर देखा। कोई न था वहाँ पर।

"क्या उस्ताद !"

"उधर क्या देखते हो ?"

"कुछ नहीं।"

"शेरनी की माँद है उधर; कह दिया। खबरदार ! फिर कहेगा

बताया भी नहीं। इधर देख जमीन पर।"

लछमियाँ ने मुख बिगाडकर पेट दबाया—"उफ बडी पीडा है।"

"अजवायन की चाय पियेगा ?"

"हाँ पिऊँगा," कहकर लछमियाँ मन के भीतर टटोलने लगा—"शेरनी कैसी होगी यह ? कोई वेश्या है क्या ? लेकिन बडी सुन्दर है। मुझे कहाँ से पहचानती होगी यह। वेश्याएं ऐसे ही जाल डाल देती हैं।"

हठात् हमदम बोला—"देर हो रही है। अजवायन चबा लो, ऊपर से चाय पी लो, बात एक ही है।"

"नहीं उस्ताद, चाय नस-नस में घुस जायगी।" लछमियाँ बैंच के ऊपर दोनो पैर समेटकर जाँघो और पेट के बीच में अपने दोनो हाथ डालकर बैठ गया।

"अभी तो अच्छे-खासे थे। अभी-अभी क्या हो गया यह तुम्हें ? अजवायन की चाय बना दो जी। सोंठ नहीं है ?"

लछमियाँ ने सिर भी पकड़ लिया—"माथे में भी दरद हो रहा है।"

"चश्मे से हो गया होगा।"

"नही उस्ताद मुझसे तो नहीं चला जाता। यहीं छोड़ जाइए।"

"यहाँ कौन तुम्हारी देख-रेख करेगा ?"

"यहीं दूकान मे पड रहूँगा। एक-दो बार खाना नहीं खाऊँगा, ठीक हो जाऊँगा। कल तुम्हारे साथ हलद्वानी चलूँगा।"

"आगे के बैंच पर एक सीट खाली हो गई है। एक को पीछे बिठा दूँगा। चाय पीकर चल, उसमे लिटा दूँगा तुझे। काम कुछ मत करना। पानी भी मै ही भर लूँगा और सामान भी चढा-उतार लूँगा। अलमोड़ा चलकर किसी डाक्टर को दिखा दूँगा। यहाँ कौन है ?"

लछमियाँ को विवश होना ही पड़ा। उसने ठण्डी साँस की तुक मिलाई उस नवीन परिचय से, परन्तु दृष्टि निराश होकर ही लौटा लेनी

पड़ी । तीखी और चरपरी चाय पीकर उसे चढ़ना पड़ा हमदम के सहारे मोटर पर। हमदम क्या जानता था लछमियाँ की बीमारी ?

रोगी को सीट पर लिटाकर हमदम ने स्वयं ही हैंडल दिया और मोटर के द्वार बन्द किये। मोटर चली, लछमियाँ ने फिर सिर उठाकर उधर देखा। कोई नहीं था वहाँ। हमदम की उस समवेदना पर उसे रह-रहकर क्रोध आ रहा था। दूसरे दिन संध्या समय तिपनियाँ लौट आने की आशा पर ही जीना पड़ा उसे। पेट की पीड़ा का अगला इतिहास कैसा होगा, इस विचार को करते हुए लछमियाँ ने सीट के अधिकांश मे अपने पैर फैला दिए।

शाम को मोटर अलमोड़े पहुँची। यात्री सब गाड़ी खाली कर चले गए। हमदम हलद्वानी से कुछ माल भरकर लाया था। कभी कभी यात्रियों की कमी उसे इस प्रकार पूरी करनी ही पड़ती है। लछमियाँ तो उसे बिलकुल माल ही ढोने की राय देता है। वह उसी में रुपया बना लेने के अवसर देखता है। लेकिन हमदम पैसे को कोई चीज नहीं गिनता। वह माल ढोने को निरी कुलीगिरी समझता है; और मोटर को केवल मालगाड़ी बना देने के वह सर्वथा विरुद्ध है।"

वह कहता है—"बोझा ढोकर पैसा कमा लिया तो क्या ? चोर बाजारी से धन जमा कर भी लिया तो क्या ? सवारियाँ ले जाने में दस भले-बुरे आदमियों का संग होता है। हँसी-खेल में रास्ता कटता है। बीस तरह की बातें सुनने को मिलती हैं। अरे यही तो दुनिया है। कमाया और अकेले-ही अकेले खाया। यह भी कोई बात हुई !"

तमाम मोटर वालों का एक संघ था, लेकिन हमदम एक अजीब ही प्रकृति का जीव था। वह उस संघ में कभी शामिल ही नहीं हुआ। सब एक ओर और हमदम अलग ? उसे भेड़ियाधसान पसन्द न थी। वह अपनी खिचड़ी अलग ही पकाने चला। जो लोग उसे मेल के लाभ बताते, उनसे वह कहता—"मेरी दुश्मनी किससे है ? अपनी आदत अपनी मौज, मैं साझे के धंधे को पसन्द नहीं करता। मैं क्यों मोटर

संघ के कायदों में अपनी गरदन फँसाऊँ ? मेरी मौज ग्यारह बजे चलने की हो तो मै क्यो सात बजे चलूँ । मेरी इच्छा रात हलद्वानी मे ही काटने की हो, तो मैं क्यो अलमोडे के लिए पेट्रोल भरूँ ?"

हमदम अकेला ही चला। और इस अकेलेपन को उसके चेले लछ्-मियाँ ने तो और भी बढ़ा दिया।

हमदम ने लछमियाँ का मुख उघाडकर कहा—"अलमोडा आ गया। कैसे रंग हैं ?"

रंग क्या थे लछमियाँ के ! जिस भूमिका के प्रदर्शन के लिए पेट की पीडा पहनी थी, उसका तो अड्डा ही उडा दिया था हमदम ने। भूख के मारे उसके पेट मे चूहे उछल-कूद मचा रहे थे। वह खाने को कहे तो कैसे और न खाये तो रात कैसे कटेगी ? वह दुविधा में पड़ा सोचने लगा।

हमदम ने उसे झकझोरकर कहा—"क्यो ? कैसा है दरद ? तुम तो सो गए। जान पडता है ठीक हो गया।"

लछमियाँ के उस पहले ही उत्तर मे उसकी सारी पीडा इधर की उधर थी। उसने सोच लिया था—"ठीक हो गया या हो रहा हूँ कह देने से तो यह फिर कल सीधे हलद्वानी ही पहुँचकर दम लेंगे। भूख की दवा हो जायगी कुछ-न-कुछ।" यह कराह उठा—"ॲँऽऽऽ"

"बुखार तो नही है ?" हमदम ने लछमियाँ की हाथ की नाडी पकडी "नहीं।"

"है थोडा-सा।"

"तब सिर्फ दूध पी लेना।"

लछमियाँ चुप रह गया।

"मै सेठजी की दूकान पर हो आता हूँ। अपने आदमी भेजकर तेल के कनस्तर उतरवा ले जायंगे। तुम यहाँ हो ही," कहकर हमदम नगर की ओर चला गया।

लछमियाँ ने सिगरेट निकालकर सुलगाई और उस अभिनय से

थोड़ी देर के लिए छुट्टी पाई। वह सोचने लगा—"मेरा कहा मानते तो कुछ फायदा भी होता। वह तो मैं ही हूँ जो तरह-तरह की तरकीबें लड़ाकर इनके लिए रुपया बटोर देता हूँ। जो भी हो, है आदमी उदार। जब जितना रुपया माँगता हूँ बिना कोई दूसरा प्रश्न किये दे ही देता है।" और फिर उसके हृदय के आकाश के बादलों को चीरकर वही चन्द्रमा निकल आया, सारा दिन जिसकी पहेली को हल नहीं कर सका था।

"उस्ताद ने वहाँ शेरनी की मांद क्यों बताई? क्या कोई नाचने वाली वहाँ आकर रहने लगी है? पर उसके मुख पर एक अद्भुत रूप था। उसमे हिंसा का कोई भी भाव न था। पंडितजी ने तो स्कूल की शिक्षा मे नाच को एक खास जगह दे रखी थी। वह कहते थे मनुष्य की प्रसन्नता का चरम विकास ही नाच है। वह स्वास्थ्य को ही नहीं बढ़ाता, वह मन को भी तृप्त कर देता है। नाचने वाली; उसे शेरनी क्यों कह दिया उस्ताद ने? वह झूठ तो नही बोलते कभी। फिर? हँसी में कह दिया होगा।"

मोटर-स्टेशन के निकट ही एक खोमचे वाला तेल मे बेसन की पकौड़ियाँ बना रहा था। हवा के एक झोंके के साथ उसकी गंध ने मोटर के भीतर प्रवेश किया जहाँ वह लछमियाँ प्रेम और रोटी के ऊपर रोग का परदा डाले पड़ा था।

पकौड़ियो की मधुर गन्ध से वह बेचैन हो उठा। कम्बल वहीं फेंककर वह भागा दूकान पर और चार आने की गरमा-गरम पकौड़ी ले आया; मोटर की सीट पर बैठकर चट कर गया, नल पर जाकर एक लोटा पानी डकार गया और तृप्ति की साँस लेकर फिर अपनी मोटर पर जम गया।

कुली आकर तेल के कनस्तर उतारने लगे और लछमियाँ उन्हें देख फिर तानकर सो गया—"मुझसे बोलो मत कोई। आठ टीन रखे हैं; उतार ले जाओ।"

नही उठा लछमियाँ। घर, दूकान और मार्गों पर दीपक जल उठे थे। लछमियाँ सोचने लगा—"हमदम उस्ताद अभी तो क्या लौटेंगे? मित्र-दोस्त मिल गए होंगे तो फिर क्या कहना है! बटुवा नोटों से भरा है। जाते बखत मैंने माँग भी नहीं लिया। जनम के आजाद हमदम आज पूरा खेल खेलकर ही आयंगे। मै अकेला कैसे न जाने देता उन्हें? लेकिन मेरी राह पर क्यो काँटे बिछा दिये उन्होंने। अच्छी पेट की पीडा हुई! मै तो दिन-भर भूखा मर गया और हमदम के पल्ले पड गई सुनहरी रात।"

टीनों के उतर जाने पर लछमियाँ फिर स्वस्थ होकर उठा। एक सीट पर उसने उस्ताद का बिस्तर खोलकर बिछा दिया और एक पर अपना डौल जमाया। जाने उसे कब नींद आई और कब हमदम वापस आए!

बडी देर मे हमदम वापस आए; सिनेमा देखने चले गए थे। पकौडी वाला अपनी थालियाँ, टाट और पटले समेट रहा था। हमदम ने दो रुपये का एक नोट दूकानदार को देकर एक सिगरेट की डिबिया माँगी।

खरीज गिनकर सिगरेट के साथ हमदम ने जेब में रख ली और नोट लौटाकर कहा—"इसे बदल दो।"

"क्या हो गया?"

"तेल मे सना है।"

दूकानदार ने नोट लेकर लालटेन की रोशनी पर उठाकर जाँचते हुए कहा—"अभी लछमियाँ पकौडी ले गया था, वही दे गया है, दूसरा है नहीं और।"

हमदम ने नोट वापस ले लिया और मोटर की ओर जाते हुए मन में कहने लगा—"पकौडी ले गया लछमियाँ? वह तो कहता था बुखार है। भूख लग गई होगी बेचारे को।"

मोटर पर आकर हमदम ने पुकारा—"लछमियाँ!"

वह घुर्र-घुर्र कर सो रहा था। हमदम ने कहा—"चलो सोने दो। रात को ठीक नींद आ जायगी तो सुबह जरूर तबीयत बिलकुल साफ हो जायगी।"

परन्तु जब ठीक समय पर लछमियाँ न उठा तो हमदम ने उसे उठाकर कहा—"क्यों ठीक नहीं हुए क्या?"

लछमियाँ बोला—"नहीं।"

"पकौड़ियाँ क्यों खा मरे फिर?"

लछमियाँ चुप रहकर सोचने लगा—"दूकानदार ने कह दिया होगा। भला उस बेईमान को अपने पैसों से मतलब था या मेरे पकौड़ी खाने से?"

"चलो अस्पताल चलो।"

"नहीं, वहाँ न जाऊँगा।"

"क्यों?"

"मोटर का समय आ रहा है। हमें अकेली मजूरी करनी है। यात्री सब निकल गए तो?"

"तकदीर हमारी है। हमदम किसी के बाप का नौकर नहीं है। वह नहीं करेगा आज मजूरी; नहीं जायगी आज कहीं उसकी मोटर। जान है तो जहान है और अपने साथी की जान अपनी जान है; चलो उठो।" हमदम ने उसे उठाते हुए कहा—"तुम्हारे लिए एक दिन नहीं मैं चार दिन भी यहाँ ठहर सकता हूं।"

लछमियाँ के मुँह से लार टपकने लगी, वह मन में बोला—"यहाँ ठहरने से क्या लाभ होगा? तिपनियाँ में एक रात भी ठहरे तो कोई बात भी हो।"

"इतना सोचने की बात नहीं है मिस्टर! अच्छा चश्मा पहना तुमने?"

चश्मे को तो बिलकुल भूल ही गया था लछमियाँ। मोटर में लेटते

समय उसने उसे डिब्बे मे डाल सिरहाने रख दिया था। हाथ डाला, निकल आया वह।

"पहनकर चलो। अस्पताल भी नजदीक है और नगर के सभी डाक्टर हमदम को जानते है। इस चश्मे को जँचवा लेंगे, कहीं इसी ने तो नही फैला दी तुम्हारी बीमारी?"

और उस समय लछमियाँ मन मे कह रहा था—"तिपनियाँ मे ही डेरा पडेगा आज हमारा। मै मोटर के इजन मे हथौडा मारकर उसे बेकार कर दूँगा तिपनियाँ पहुँचते ही। मै और कोई पेच या तार निकालकर फेंक दूँगा या तोड दूँगा। फिर कैसे नही रुकेंगे यह वहाँ?"

"चलो फिर, सोचते क्या हो? नहीं ले जाएंगे आज सवारी," हमदम ने कहा।

लछमियाँ उठ बैठा—"अच्छा आज माल ही भरेंगे।"

"माल हो भर ले जाना।"

"मै ही भरूँगा—अपने मन से।"

"क्या भरोगे? कहाँ से?"

"यह सब नहीं बताऊँगा।"

"ब्लैक का माल तो नहीं भरोगे?"

"आज ही नही, अब रोज माल ही भरेंगे।"

"अरे बुढापे मे हमदम को जेल के भीतर पहुँचाओगे क्या? नहीं लछमियाँ, किसलिए? हमदम अकेला दम, वह अपनी आशाएं नही बढाता। भगवान ने उसे बहुत दिया है।"

"बहुत दिया? हाथो मे लेकर खाना खाते हो। जिस बैंच में दिन-भर बैठकर मजूरी करते हो, रात को उसी मे तुम्हारा बिस्तर लगता है। जो कम्बल पारसाल तुम्हारे पास था उसके और भी तार-तार उड चले हैं इस साल। जो फटा कोट बरसों से तुम पहनते चले आए हो, वही आज भी तुम्हारे रात का सिरहाना है। दुनिया किधर बढती जा

रही है उस्ताद, और तुम झूठे सन्तोष के शब्द में अपनी कमजोरी सजाते चले जा रहे हो।"

"कमजोरी कैसी बे ?"

"डरते जो हैं आप इतना। मैं कहता हूँ ब्लैक का माल उतना ही भारी भी तो है, इसी से उसका उतना भारी भाड़ा भी है। देख नहीं रहे हो, जिनके कल रहने का ठिकाना नहीं, आज महल खड़े हो गए उनके। हमारे क्या हाथ-पैर नहीं हैं, या दिमाग मे गोबर भरा है ? मैं कहता हूँ, अगर कही हमारा अपना एक गोदाम होता तो भाड़ा ढोना क्या अपना व्यापार चलता और आनन-कानन मे सोने के पहाड़ जमा कर लेते।" लछमियाँ ने कहा।

"अरे क्या माया के चक्कर में फँस गया तू ? जान पड़ता है, तेरे पेट का दरद हलका पड़ गया।"

"कैसा माया का चक्कर ! यह माया का चक्कर वही लोग कहते हैं, जिनकी गाँठ में कानी कौड़ी भी नहीं। धनवानो से पूछो माया की महिमा ! चमचमाती मोटरो में सैर करते हैं; मालपुए उड़ाते हैं। हमें दियासलाई की डिबिया नसीब नहीं; हलवाइयों की भट्टी से कोयला उठा-उठाकर बीड़ी सुलगाते हैं और उनके घरों में दियासलाई के बकस-जैसे रेडियो के बकस पड़े रहते हैं। वे बतायंगे तुम्हे, गरीब की बोली में जिसे माया का फेर कहा गया है वह श्रीमान् के घर में महालक्ष्मी का प्रकाश है। पौरुष वाला ही लक्ष्मी प्राप्त करता है, दुनिया डरपोकों के लिए नहीं है।"

हमदम चुपचाप सुन रहा था चेले का लेक्चर; दिमाग मे उसके भी लछमियाँ के आगे बढ़ने की सड़क का नकशा दिखाई देने लगा था।

"बढ़ चलो, बढ़ चलो ! यह है युग की पुकार। बढ़ें किधर ? स्वर्ण की ओर; यही तो असली बढ़ना है। स्वर्ण ही तमाम मुश्किलो का एक हल है। जिसके पास स्वर्ण है, उसी की दुनिया है, पुण्य उसी का है, वही ऊँचा है और वही बुद्धिमान भी।"

"लेकिन ब्लैक—"

हमदम को रोक लिया लछमियाँ ने बीच ही मे —"क्या है ब्लैक ? मै कहता हूँ दरिद्रता से बढकर ब्लैक काम और दूसरा नहीं है कोई। देखते नहीं धुँए से काले निवास, मैले कपडे, अँधेरी गलियाँ, रोगी काया और गन्दे मनसूबे ? यह है ब्लैक—घोर नरक। मेहनत करेंगे, साहस को काम मे लायंगे। ऐसे ही इशारे पर बुलाने से थोड़े मिल जाती है लक्ष्मी !"

"अच्छा उठो भी तो फिर। चलो, पहले अपनी नाडी तो दिखाओ डाक्टर को।"

"ठीक हो गया मैं। आप बैठिए मै मोटर ले जाकर इसमें माल भर लाता हूँ।"

"कहाँ से ?"

"कहीं से भी हो। तुम्हें भाडे से मतलब है न ? डबल भाडा जब मिलता है, तो उसे छोड देना मूर्खों का काम है।"

लछमियाँ बहा ले चला हमदम को। वह मुसकाया और बोला—"तबीयत तो ठीक कर लो।"

"तबीयत ठीक हो गई, जब उस्ताद माल भरने को राजी हो गए। छोडो यह मुसाफिरों का खटराग। क्या रखा है इस झंझट में ? तमाम गाडी थूक और कै करके अपवित्र कर देते है। झूठी धौंस जमाते हैं मुझ पर।"

"अच्छा, अच्छा कह तो दिया आज भर ले माल।"

"कल भी।"

"कल को कल ही देखी जायगी।"

लछमियाँ साल-भर मे ही मोटर को भली-भाँति समझने लग गया था। हमदम के हाथों मे कभी सिगरेट या कभी कोई और खाने-पीने की चीजें देकर अपने हाथ मे मोटर का चक्का ले लेता था। धीरे-धीरे भावर की सीधी और समतल सडकों पर उसने साहस खोल लिया

और फिर पहाड़ी ऊँच-नीच और चक्करों में भी उसके मन की झिझक जाती रही। हमदम ने उसका उत्साह बढ़ाने मे कोई कसर नहीं रखी थी। फिर तो लछमियाँ गाड़ी चलाने लगा—चढ़ाव, उतार, मैदान सब जगह; निडर और बिना खटके के। इम्तिहान मे पास था वह, पर सिर्फ सर्टिफिकेट न होने के कारण कोई उसे ड्राइवर कहने को तैयार न था। उसे कोई चिन्ता न थी। जब काम उसे आ गया तो उसे पक्का भरोसा था—लाइसेंस भी मिल ही जायगा।

लछमियाँ मोटर चलाने को उद्यत हुआ। हमदम बोला—"मै भी चलता हूं। लाइसेंस तो मेरे नाम का है, किसी ने पकड़ लिया तो?"

"निकट ही तो है, सब भलेमानस जान-पहचान के हैं मेरे। फिर उस्ताद और चेले में फरक ही क्या है? उस्ताद के नाम पर चेले का भी नाम चलता है। तुम हाथ-मुँह धोओ, कुछ खा-पी लो। मै आ पहुँचूँगा।"

"तू तो यार बीच की सीढ़ी ही गायब कर गया?"

"नहीं समझा।"

"एकदम क्लीनर की सीढ़ी से मोटर मालिक के दरजे पर कूद गया।"

"उस्ताद की कृपा है सब," कहकर लछमियाँ गाड़ी बढ़ा ले चला।

अब गाड़ी उसकी मुट्ठी मे थी। वह सोचने लगा—"एक घंटा लगा दूँगा माल की बातचीत करने में और एक घंटा उसके लादने मे। दो घंटे जब यहीं कट गए, एक-आध घंटा और लपेट ही लूँगा। फिर कहाँ रहेगा तिपनियाँ से आगे बढ़ने का समय? आज तिपनियाँ में ही जमेगा लछमियाँ का डेरा।"

लगभग डेढ़ घंटे में लछमियाँ ले आया मोटर। आन्तरिक हर्ष से अकड़ रहा था वह। उसका हर्ष दोहरा था। एक शेर की माँद से तो वह माल निकाल लाया था। वही माल मूल कारण भी हुआ कि वह

तिपनियाँ की दूसरी शेरनी की माँद में जाकर पदार्पण करे।

हमदम बोला—"बड़ी देर लगा दी?"

"सब वसूल हो जायगा। आज किसी की धौंस नहीं है। अपने समय के आप मालिक है। तिपनियाँ ही रह जायंगे? हानि क्या है? क्या वहाँ रात काटने की मनाही है?"

"वही सही। हमदम का कोई क्या लेगा?"—उसने उत्तर दिया और उसको पहली याद पड़ी।

"मैने तो मुँह भी नही धोया। माल के ही चक्कर मे फँस गया।" कहकर लछमियाँ ने मोटर ठिकाने से लगाई और उसमें से उतर पड़ा।

"क्या माल भर लाए हो?" हमदम ने मोटर के भीतर देखा।

"उस्ताद, माल के वजन से है मतलब तुम्हे। चौकस काँटे पर रखकर लाया हूँ। वजन के बाद मतलब है भाड़े से।"

"काहे की बोरियाँ हैं? सीमेंट तो नहीं है?"

"सीमेंट के कट्टे होते हैं, इतनी बड़ी बोरियाँ नहीं।"

हमदम हँसने लगा—"माल किसका है?"

"ठेकेदार साहब का। हलद्वानी में ठेका ले रक्खा है न उन्होने। चूने की बोरियाँ है। यहाँ रक्खी थी, ले आयंगे काम में।"

हमदम ने देखा जाँचकर, बोरियाँ चूने से सफेद थी तो सही लेकिन मन का संशय बाहर निकालने को वह फिर हँसा।

लछमियाँ जल्दी-जल्दी शौच से निवृत्त हो गया। कुछ खा-पीकर तैयार हो गया। उस्ताद तिपनियाँ के पडाव की मंजूरी दे ही चुके थे। अब तक जितनी देर कर रहा था वह, अब उतनी ही जल्दी मचाने लगा।

मोटर चली। मार्ग मे जब लछमियाँ को हमदम के तिपनियाँ मे ही पडाव डाल देने का निश्चय हो गया, तो वह निश्चिन्त हो गया।

लछमियाँ ड्राइवर के बगल की ही सीट मे विराजमान था, बोला—

"उस्ताद, आपके और मेरे बीच में ये यात्री ही तो अन्तर डाल देते थे। वे नहीं है, तो लछमियाँ आपके इतने निकट बैठ सका है। गाडी जब इन पहाड़ो के उतार-चढ़ाव मे चलती है, तो मन में बड़े-बडे विचार उदय और अस्त होते हैं। हमारे पंडितजी कहते थे कि विचार ही में असली शक्ति है।"

"मतलब क्या है तुम्हारा?"

"मेरा मतलब है, तिपनियाँ की धर्मशाला को गोदाम बनावें। आलू का व्यापार करें। कण्ट्रोल अब उस पर है नहीं। चाँदी पीट लेंगे उस्ताद चाँदी।"

"धर्मशाला में कौन तुम्हे गोदाम बनाने देगा? गाँव वाले उजर करेंगे।"

"कोई नही करेगा। बडी पुरानी स्कीम है यह। भुमिया के मन्दिर की मरम्मत करा देंगे, गाँव वाले खुश हो जायंगे।"

"हाय रुपया! हाय पैसा! क्या हो जायगा उस रुपए से?

"अपनी तमाम जरूरतें पूरी करेंगे।"

"क्या हैं वे जरूरतें? बनाए का बखेड़ा है दोस्त! मैंने सुना है आदमी के एक पूँछ भी थी, आदमी ने उससे काम लेना छोड दिया और वह गायब हो गई। जितनी जरूरत कम करोगे उतने मजे में रहोगे।"

"क्या बात करते हैं उस्ताद! जितनी जरूरतें कम होगी, उतने हम जानवर हैं और जितनी-जितनी जरूरतें बढ़ती जायंगी, उतने-उतने हम सभ्य होते जायंगे।"

"पलंग नही है हमारे पास, मोटर की सीट पर सोते हैं और किसी से कम मजे में नहीं सोते। पलंग होता तो कहाँ रखते? और खटमल! नाम मत लो ऐसा पलीद जानवर है—खून चूस-चूसकर पीला कर देता। मैं कहता हूँ तकिया भी क्यों चाहिए? कोट सिरहाने डाल लेता हूँ और उसकी जेब में बटुआ भी हिफाजत से रहता है। जरूरत नहीं

रक्खी, मतलब नहीं रक्खा तो पूँछ; घुल गई और बढ़ाओगे तो मियाँ सिर पर दो सींग भी उपज जायंगे। मै कहता हूँ जरूरत बढाना ही जानवर की निशानी है—जानवर भी पालतू नहीं खूँखार-शेर! बाघ!" हमदम ने कहा।

"तिपनियाँ मे जिस शेरनी की माँद आपने बताई थी वह कौन है उस्ताद!" लछमियाँ ने पूछा।

पहले तो माथा ठनका हमदम का, फिर साधारण तरीके से उसने उत्तर दिया—"पुरानी नाचने वाली है, तुमने नहीं देखा कभी नन्दादेवी के मेले मे उसका नाच?"

कुछ याद पडी लछमियाँ को—"हाँ देखा है।'

"तो जान-पहचान है तुम्हारी?" ठहाका मारकर हमदम हँसा।

लछमियाँ की स्मृति जाग उठी; वह मन मे कहने लगा—"एक दिन उसके यहाँ गया तो था मै। वाह! कितनी होशियार है वह, एक ही दिन की भेंट मे पहचान गई और मैं, लछमियाँ, बडा चतुर अपने को समझने की डींग मारता हूँ—मैं भूल गया उसे। तभी तो मैं कह रहा था, हट-हट कर मुसकाने वाली यह कौन है। वाह! बडा सच्चा प्रेम है इसका! कौन कहता है रूप के बाट में बैठी हुई यह हृदय-हीन है। हमदम इस बात के उस्ताद थोडे हैं, तभी तो शेरनी बताते हैं।"

"क्यो? किस सोच मे पड गया रे लछमियाँ। तेरी जान-पहचान हैं क्या उससे? और तभी तू तिपनियाँ की धर्मशाला में अपना हेडक्वार्टर खोलने को बेचैन हो उठा है।"

"शेरनी कहते हैं आप तो उसे।"

"जो जी मे आया, कह दिया हमदम ने। लेकिन वह गाती बड़ी सुन्दर है और इसीलिए वह शेरनी से भी अधिक भयानक है।"

"गाना तो एक आर्ट है। पंडितजी कहते थे, कलाकार धरती से बहुत ऊँचे पर उडता है।"

"शेरनी की दहाड़ सुनकर उसके निवाले को भाग जाने का अवसर

मिल जाता है, पर यह अपने गीत के जादू से शिकार को अपने मुख में ही खींच लेती है। सुना है मैंने भी इसका गाना। एक-दो मर्तबा गया हूँ मैं यार-दोस्तों के साथ उसके यहाँ। जाना ही पड़ा। मगर हमदम आसानी से फिसल जाने वाला आसामी नहीं है। कह तो दे कोई उसकी मोटर ने कभी कोई ऐक्सीडैंट किया है। न कभी किसी गाड़ी के ठेस लगाई और न प्राणी के नाम पर किसी जानवर की पूँछ भी दबाई।" हमदम ने मूँछों पर ताव देते हुए कहा—"बेटा, ऐसी ही उम्मीद तुमसे रखता हूँ। हमदम की शान को बट्टा न लगे।"

लछमियाँ ने मन में निश्चय किया—"उस्ताद जब उसका गाना सुनने गये हैं तो चेला भी जरूर जायगा। रह गई ऐक्सीडैंट करने की बात, वह तो सौ फी सदी बचाया ही जायगा। गाड़ी खड्ड में चली जाय तो फिर मँगाई जा सकती है, लछमियाँ की जान थोड़े कहीं से मोल या मँगनी आ जायगी?"

लछमियाँ ने अलमोड़े से चलने का सही गणित लगाया था, उस्ताद के चक्के की करामात थी कि गाड़ी न आगे न पीछे, ठीक वक्त पर तिपनियाँ पहुँच गई। यह पड़ाव जान-बूझ कर वहाँ पड़ा है, किसी की भी ऐसी संशय कर सकने की मजाल नहीं थी।

"हलवाई की दूकान से ही गाड़ी लगाओ उस्ताद! नल भी निकट है वहाँ से और यह हलवाई अच्छा आदमी है। तेल से घी कहने का अधिक आदी नहीं है," लछमियाँ बोला।

"हाँ, क्यों नहीं, मोटर के भीतर पड़े-ही-पड़े फोकट में परुली का गाना जो सुनोगे। लेकिन लछमियाँ, सच बात अपने-आप निकल आती है मुख से। दोस्त अगर गाने वाला ही न दिखाई दिया तो गाने का लुत्फ ही क्या रहा। इसलिए मैं ग्रामोफोन और रेडियो दोनों को कण्डम करता हूँ।" गाड़ी दूकान से लगाकर, उसके भीतर ही गुरु-शिष्य का यह संवाद चल रहा था।

बहुत दूर तक विरक्ति के साथ खींचते हुए लछमियाँ ने उत्तर दिया—"हाँ ऽऽऽ।"

"लेकिन एक खटका मिटा तुम्हारे दर्द का। अब तो ठीक है न ?"

"बिऽलकुल उस्ताद।"

"क्या रंग हैं फिर, चलो उतरें।"

"नहीं उस्ताद, जोखिम का माल है साथ मे।"

"जोखिम कैसी ?" चौंककर हमदम ने पूछा—"अबे, तू तो कहता था बोरियाँ चूने की हैं।"

"चूने की तो हैं ही। मैं भूल गया ! मेरा मतलब बाहर की जोखिम से था।"

"बाहर की कौन-सी जोखिम ?"—हमदम का शक थोड़ा-सा कम हुआ।

"यही शेरनी की माँद !" शेरनी ! दाँत भी, पंजे भी ! याद तो करो !"

तू पक्का लोफर हो गया लछमियाँ ! अगर कुछ कपड़े साफ पहनने लग गया तो अच्छे-अच्छे मुसीबत में फँस जायंगे। उतर फिर, खाने को तो खायगा कुछ ?"

"दूकान कितनी दूर है। आवाज ही दे देने से हलवाई पहुँचा जायगा यहीं ?"

सूर्यास्त को कुछ बादलों ने ढक दिया था, और अब वे लाल रंग की कई छायाओं में चमक उठे थे। प्रतिफलित होकर सारा तिपनियाँ उस स्वर्णाभा में जगमगा उठा था।

दो-चार मोटरें बासा ले रही थीं तिपनियाँ में। अधिक चहल-पहल तो ऐसी ज्ञात होती न थी। हलवाई चूल्हे पर बासी साग को गरम कर रहा था और ग्राहक की अधिक आशा न कर लालटेन की चिमनी में एक मैले झाड़न को घुमा रहा था। नल की डिग्गी में पानी पीकर एक गाय लौट रही थी। दूकान के निम्न भाग में दिन-भर की धूप से

मुरझाई हुई कुछ मूलियाँ रक्खी थीं। हरियाली ने पशु को आकृष्ट कर लिया और उसने उधर मुँह मार एक मूली की चोटी ले ली अपने मुख में।

खडबड़ सुनकर हलवाई चौंका—"हऽऽट्!" कहकर उसने चिमटा मारा भूमि पर।

हलवाई की विकट ध्वनि सुनकर दोनों निकल आए मोटर के भीतर से और उसकी बेंच पर बैठ गए। पाव-पाव-भर पूरी सामने रखकर दोनों ने उड़ाईं। खा-पीकर हमदम ने पूछा—"गाँव जाओगे?"

"नहीं!"

"धर्मशाला में दम लगाने या रनफलास खेलने भी नहीं?"

"नही उस्ताद!"

"अच्छा मैं हो आता हूँ बाबाजी के धोरे। अच्छी ज्ञान की बात कहते हैं दुनियादारी और दूकानदारी से हटकर जरा।"

"रात चाँदनी है, कोई खटका नहीं उस्ताद।"

हमदम के जाने पर लछमियाँ ने इधर-उधर ताक-झाँक की और फिर हलवाई से उस नए किराएदार की बाबत जाँच की, उसका नकशा और प्रोग्राम, उसके आर्ट और योग्यता की बारे मे सुना और समझा।

"दिया जलते ही पतंगों के झुण्ड परुली को घेर लेंगे! फिर वह कहाँ बात करने लगी लछमियाँ से? उस्ताद कहते हैं रुपया कोई चीज ही नहीं!" सोचते हुए लछमियाँ चट से उठा, उसने सड़क से नीचे देखा, उस्ताद उतरते जा रहे थे धर्मशाला की सीध मे।

लछमियाँ साहस की पेटी तेल-सने पतलून में एक घर और ऊपर सरकाकर प्रविष्ट हो गया परुली के रंग-भवन में। पहला कमरा उसी का था, दूसरे कमरे में एक-दो आदमी बातें कर रहे थे कदाचित् उसके उस्ताद और तबलची हों।

परुली अकेली बैठी-बैठी सिगरेट पी रही थी। लछमियाँ को देखते ही पहाड़ी में बोल उठी—"मैं तो कल ही तुम्हें पहचान गई थी, पर

तुम क्यो आने लगे ? लेकिन लछम वेश्या भी प्रीति करती है।" उस गायिका ने मन्द्र स्वरो में यह रहस्य खोला।

लेकिन लछमियाँ ताव खा गया—"कौन कहता है तुमसे वेश्या ? कामी और लंपट पुरुषों ने ही तुम्हे यह नाम दिया है। मैं कला-प्रेमी हूँ, मेरे कोष में तुम्हारा नाम है—नृत्य-बाला—अप्सरा !"

परुली का गॉव भी उसी घाटी मे था जहाँ लछमियाँ का। इस दैशिक घनिष्ठता को बढ़ाकर परुली लछमियाँ के द्वारा हल्द्वानी से जुड़ जाना चाहती थी। परन्तु लछमियाँ ने जो सम्बोधन उसे दिया, वह अनायास ही उसके हृदय मे एक स्थान बना गया।

लछमियाँ बोला—"मेरे योग्य सेवा ?"

परुली ने मुस्काकर कहा—"गाना सुनिए।"

नौकर गैस जलाकर ले आया। उस्ताद ने सारंगी के कान ऐंठे, तबलची ने तबलो पर हथौड़ा ठोंका। गाना आरम्भ हुआ। चार दोस्त आकर इकट्ठे होने लगे।

लछमियाँ एक बार बीच में जाकर मोटर के परदे गिरा उसे अच्छी तरह बन्द करके फिर परुली के यहाँ चला गया।

हमदम शीघ्र ही लौट आया था। मोटर में लछमियाँ को न पाकर हलवाई से पूछा। हलवाई ने ऊपर कोठे की ओर इशारा कर दिया।

हमदम ऊपर चढ़ गया और उसने भरी महफिल में पुकारा—"लछमियाँ !'

दस

. . . .

पंडितजी ने अपने खाने-भर के लिए, अन्त में अपने शुद्ध परिश्रम से खेती आरम्भ कर ही दी। अर्थात् इस बार जो उनकी अपनी व्यक्तिगत धान की खेती हरी हो रही है उसमें उनके हाली ने हल नहीं चलाया है। उसे पंडितजी ने अपने हाथों से कुदाल से खोदा है। इसमें कोई संशय नही उन्हें बहुत बड़ा शारीरिक परिश्रम करना पड़ा है, उसका बहुत बड़ा मूल्य आँका उन्होंने।

चाचाजी ने एक दिन फिर उनसे कहा—"बेटा, यह जो शुद्ध श्रम की संज्ञा तुमने उपजाई है, वह केवल एक कल्पना है तुम्हारी। श्रम की शुद्धि है सत्य और अहिंसा।"

"हल का परित्याग करने से मैंने दोनों की रक्षा की है। आपने पढ़ा होगा राजकुमार सिद्धार्थ ने हल के प्रयोग को एक हिंसक व्यवहार बताया था।

"सबसे शुद्ध श्रम भगवान की आराधना का श्रम है।"

"खेत खोदते समय भी तो हम मानसिक तल में उनकी सन्निधि प्राप्त कर सकते हैं।"

"असम्भव है।"

"आपके शास्त्र ने भी तो हल चलाना अपवित्र माना है।"

"हाँ माना तो है। इसलिए तो हाली का जन्म हुआ और वह अछूत हो गया।"

"जो बात हमारे लिए अपवित्र है, वह अपवित्रता दूसरे के सिर पर लाद देना घोर अपवित्रता है। हाली का उपजाया हुआ अन्न खाने का हमें कोई अधिकार नहीं है, वह भी अपवित्र है।"

"वह अपवित्र नहीं है। शास्त्र में कहाँ लिखा है।"

"लिखा है चाचाजी!" बडी विनय के साथ पंडितजी ने चाचाजी का विरोध किया—"कई जगह जो नाग-पंचमी को व्रत किया जाता है, उसमें आप जानते ही हैं, हल से उत्पन्न अन्न निषिद्ध समझा जाता है।"

"एक दिन की बात से क्या होता है। तीन सौ चौंसठ दिन तो हल से उत्पन्न अन्न पर ही जीवन धारण करना होता है।"

"एक दिन से भी होता है चाचाजी! वर्ष के एक दिन में भी वह सुरक्षित सत्य, हमे उस पवित्रता को विस्मृत नहीं होने देता। भारत में अँगरेजो की एक छावनी में एक फाटक था, अब भी होगा।"

"उससे क्या सम्बन्ध?"

"मेरा मतलब है वह फाटक भी वर्ष-भर में एक दिन बन्द कर दिया जाता था, जनता के लिए।"

"क्यों?"

"अपने कूट राजनीतिक स्वत्व-प्रदर्शन के लिए। वर्ष के केवल एक दिन के ही प्रयोग से प्रजा की मानसिकता में से उसका अधिकार छीन लिया जाता है। वह एक दिन का व्रत इसी प्रकार हमें आज भी हल की अपवित्रता की साक्षी देता है। जो एक युग है, वही एक वर्ष और वही एक दिन वही एक घंटा-मिनट भी नहीं है चाचाजी?"

चाचाजी कुछ सोचने लगे।

पंडितजी फिर बोले—"अपनी आवश्यकता अपना श्रम—यही श्रम की शुद्धि का सूत्र है चाचाजी! संसार में यदि यह व्यवहृत नहीं तो

क्या हुआ ? मैं इसका प्रयोग करूँगा। एक सिरा सँभाल लिया है। इस खेती को लवाने के पश्चात् दूसरा सिरा भी सँभाल लूँगा।"

चाचाजी हँसकर बोले—"तुम्हारी इस श्रम की शुद्धि वाले समाज में छोटे-छोटे बालक, दुर्बल वृद्ध और रोगाक्रांत व्यक्तियों के लिए कौन स्थान होगा ?"

"वे अपवाद होकर रहेंगे।"

"अतिथि ?"

"अतिथि को अपना सम्बल बाँधकर चलना होगा।"

"जिस अतिथि की शास्त्र में इतनी महिमा है, तुम उसका अस्तित्व ही उड़ा देते हो ?"

"जब जगत में शुद्ध श्रमिकता फैल जायगी तो फिर कोई भी अतिथि या याचक होकर कलंकित होना न चाहेगा।"

"तुम एक कोरे स्वप्न के जगत को देख रहे हो।"

"चाचाजी, मैं प्रचारक के पेशे को उच्चता नहीं देता। मैं अपने विचार की ओर किसी को भी खींचने का पक्षपाती नहीं हूँ।"

"चाचाजी सोचने लगे—"इसके मस्तिष्क मे कोई विकृति उपज गई है।" पर वह विकृति निर्दोष थी और चाचाजी उस पर कोई प्रतिबन्ध लगा भी नहीं सकते थे। पंडितजी बालक तो थे नहीं, पढ़े-लिखे, साहित्य और कला मे गति रखते थे। उन्होंने प्रकट मे कहा—"बेटा, तुम यह किधर बढ़ रहे हो समझ में नहीं आता। शास्त्र की ओर कहूँ तो कैसे ?"

"शास्त्र की ओर क्यों नहीं ?"

"छूत-छात नहीं मानते।"

"हल की तो मानने लगा हूँ।" हँसे पंडित जी।

"विज्ञान की ओर भी तुम नहीं बढ़ रहे हो, क्योंकि तुमने अपनी आवश्यकताएं बिलकुल कम कर दी हैं। मशीन की शक्ति को तुम दानवीय कहते हो।"

"त्याग ही जीवन है चाचाजी ! महल से घर अच्छा है, घर से झोंपड़ी और झोंपडी से पेड के तले और पेड के तले से नक्षत्र-खचित नीला आकाश—वह साक्षात् ब्रह्म का आश्रय है।"

"कौन रहता है वहाँ ?"

"जिसके विश्वास है और जिसने अभ्यास किया है। भौटिये और हुँणिये आकर जाडों में आपको प्रतिवर्ष साक्षी नहीं दे जाते क्या ?"

और जब पंडितजी का शुद्ध श्रम धानो के खेत में कुछ और ऊँचा हो गया, वह उनको देख-देखकर सन्तोष कर रहे थे। एक दिन खेतों पर उन्हें उनका वह हाली मिला, जिसके हल को उपेक्षा करके पंडितजी ने अपनी कुदाल चला दी थी।

"सेवा मानिए महाराज !" वह पुरानी चाल का रूढ़िभक्त पुजारी बोल उठा।

पंडितजी ने हाली के कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्रेम से कहा—"सेवा कैसी ? मनुष्य सब समान हैं। उसे अपने ही शुद्ध श्रम पर जीना है। यही उसकी निर्लेप स्वतन्त्रता है। यही भारत की ऊँच-नीच मिटाने का नुसखा है और इसी पर विश्व-शान्ति का स्वप्न प्रत्यक्ष हो सकता है। गुलामी से ऊपर उठो हाली, हम सब समान हैं। कोई किसी का मालिक नहीं और न कोई किसी का सेवक !"

"ऐसा क्यों कहते हो मालिक !"

"फिर वही बात ! हम सब भाई-भाई हैं।"

"क्या अपराध हो गया मुझसे, जो इतनी घृणा हो गई आपको।"

"तुमसे कोई घृणा नहीं है मुझे।"

फिर हल नहीं चलवाया मुझसे। मैं कैसे अपने बच्चों का भरण-पोषण करूँगा ?"

"हल नहीं चलवाया, हल मे अवश्य मुझे भय दिखाई देता है।"

"भय कैसा ?"

"वर्ग-भेद उसी ने उपजाया है। उसी से सिक्के की कल्पना भी हुई

है। फिर क्या हुआ ? सिक्के के साथ ही सारे कलुष उद्भूत हो गए। नहीं तो हाली, मनुष्य को जीवन धारण करने के लिए क्या चाहिए, दो मुट्ठी अन्न। आवश्यकताओं की वृद्धि ने हमें आलसी और रोगी बना दिया। मानवता के बीच में भयानक दीवारें चिन दीं और भगवान् पर लौह-आवरण डालकर हमें नास्तिक और असहाय कर दिया।"

"हल ने ही यह किया, बड़ी अद्भुत बात है।"

"हाँ यह समय की बचत करता है। और जो समय की बचत करता है, वह प्रकृति को धोखा देता है। पर एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है, प्रकृति को कोई ठग नहीं सकता। वह अपना विकट बदला ब्याज-सहित उघा लेती है। इसलिए तुम भी शुद्ध श्रम करो हाली! प्रकृति दयामयी जननी है, उसकी शुद्ध श्रम करने वाली संतान भूखी रह ही नहीं सकती। भगवान् का विश्वास उपजाओ तो सही हाली, मनुष्य की कृपा झूठी और थोथी वस्तु है।"

हाली की समझ में नहीं आया पंडितजी का प्रवचन। वह उसे उनकी कोई चतुराई समझने लगा। बोला—"महाराज आप मेरी छूत मानते रहते, मुझे इतना कष्ट नहीं होता। मेरी जीविका का साधन, यह हल जो आपकी दृष्टि में अछूत हो गया, यह न्याय नहीं कर रहे हैं आप। उसकी अपवित्रता कहाँ पर है ? केवल लोहा और लकड़ी—इन दोनों में से कौन अशुद्ध है ?"

पंडितजी की दार्शनिकता और अर्थशास्त्र घुस नहीं सकते थे उस निरक्षर हाली के मस्तिष्क में। उन्हें बड़ी पीड़ा होने लगी।

हाली कहने लगा—"अच्छा आपके खेत हल से नहीं, कुदाल से ही खोद दिया करूँगा अगली फसल से ?"

"नहीं मित्र, मैं किसी अन्य का परिश्रम नहीं मिलाना चाहता अपने अन्न में।"

"आप चाचाजी से बटवारा कर चुके क्या ?"

"नहीं।"

"फिर उनके खेतों मे तो हल चलता ही है ।"

"इससे क्या हुआ ? मैं अपना अन्न अपनी कुदाल से उपजाता हूँ यह मेरी व्यक्तिगत बात है ।"

"फिर आपका यह अन्न भी तो जाकर एक ही पतीली में मिल जायगा ।"

"नहीं मिलेगा !"

"झूठी बात !"

"बिलकुल सच । मै इधर अन्न उपजाने के लिए तुम्हारा सहयोग छोडता हूँ तो उसे पकाकर खाने के लिए भी मुझे मेरा ही श्रम अभीष्ट होगा ।"

"तब बटवारा हो गया आपके बीच । तरकीब बढ़िया सोची आपने । लेकिन एक बात मैं फिर कहूँगा, आपके विचारों में धोखा है । आपसे तो आपके चाचाजी अपनी पुरानी घिसी-घिसाई चाल में ठीक हैं । वह हाली की छूत मानते है, हल की नहीं । आपने हाली को शुद्ध किया, पर मार दिया उसे भूखा !"

"हाली तुम मेरा मतलब नहीं समझ सकते । मैं चार वर्णों का एक ही में सम्मिश्रण कर देना चाहता हूँ । यह वर्ण-विभाग बदनाम तो केवल भारतवर्ष को करता है, परन्तु घर है इसका सारी सभ्य धरती पर—हाँ नाम अलग हैं । विधायक मन्त्री, ब्राह्मणों का दल है । रक्षा और शान्ति के नाम से क्षत्रियत्व चलता है, उत्पादन और व्यापार वैश्यता है ही और शूद्रत्व दलित और शोषितों के संघर्ष का नाम है । श्रम के इस विषम-विभाजन ने समाज को गँदला किया । 'अपना श्रम, अपनी आवश्यकता ।'—यह ध्वनि सुरीली नही सुन पडती क्या ? सब अपना अन्न-कपडा उपजायेंगे, कोई जमा नहीं करेगा, न व्यापार होगा, न सिक्को का व्यवहार होगा, न किसी के लालच होगा न आतताईपन पनपेगा, न कोई मालिक रहेगा न कोई सेवक । सभी भोक्ता होंगे और सभी मजूर ।"

हाली घबरा उठा पंडितजी की बातों से और मन में यह सोचता हुआ चला गया—'बहुत अधिक किताबें पढ़ने से भी आदमी का दिमाग खराब हो जाता है।'

त्याग के मार्ग में बराबर बढ़ता हुआ वह यात्री, चाची की विशेष दया का पात्र बन गया। आरम्भ में चाची ने अवश्य ही पंडितजी को एक भय और बाधा के रूप में देखा था, परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए त्यों-त्यों उन्होंने अपने विचारों को संशोधित कर लिया।

चाचाजी, पंडितजी के केवल छूत-अछूत के विचारों पर सहमत नहीं थे, पर जब से वह हल की छूत मानने लगे तो उन्हें विश्वास हो गया—जब हल को छूत उनके मन मे बस गई तो हाली से उनका सम्बन्ध छूट ही गया। पंडितजी का दर्शन-शास्त्र जो चारों वर्णों का विभाजित व्यक्तित्व एक ही अभिन्नता में समन्वित कर लेने का था, चाचाजी को मान्य था -केवल सिद्धान्ततः। वसुन्धरा बहुत आगे बढ़ गई थी और उसे पीछे कर लेना केवल ईश्वरीय शक्ति का ही काम था।

पंडितजी ने सिगरेट छोड दी, कुछ दिन तक चूना मलकर सुरती खाई। फिर उसका भी त्याग कर दिया। कोई बिगाड़ इससे उनकी शारीरिकता में नहीं प्रकटा। इसके पश्चात् चाय की बारी आई। और एक दिन दूध के सहारे उन्होंने चाय का भी त्याग कर दिया!

इसके पश्चात् बारी आई नमक और चीनी की। उन दिनों उन दोनों का भयंकर अभाव था। गाँव वालों को उन दोनों की पाप्ति में धन के साथ विकट प्रतीक्षा और श्रम भी करने पड़ते थे। पंडितजी को यह रस की दासता भौतिक गुलामी से अत्यन्त भयानक जान पड़ी। उन्होंने पहले चीनी का त्याग कर दिया और फिर नमक भी छोड दिया।

चीनी के लिए तो नहीं, नमक के लिए चाचाजी ने घोर प्रतिवाद किया—"शुद्ध दूध का स्वाद चीनी से विकृत हो जाता है, पर नमक यह भोजन को पचाने के लिए बहुत आवश्यक अंश है। पशुओं तक को यह दिया जाता है।"

"नहीं चाचाजी," पंडितजी बोले—"यह शरीर को गला देता है और उसकी स्वाभाविक पाचन-शक्ति को दुर्बल कर देता है। मैंने दादीजी से बचपन में सुना था, इस पहाड मे पहले नमक का इतना प्रयोग नहीं होता था। समुद्री नमक तो रेल ने फैलाया है यहाँ, पहाडी नमक आता था यहाँ तिब्बत से। वह एक निधि की भाँति घरों में रक्खा रहता था। विशेष अवसरो पर विशिष्ट व्यक्ति ही उसका उपयोग करते थे। वह स्त्रियों और नौकर-चाकरों तक नहीं पहुँचता था। तब चाचाजी, तब क्या पाचन-शक्ति दुर्बल थी हमारी ? रह गई पशुओं को खिलाने की बात। यह केवल मनुष्य की एक बहक है। मैंने एक किसान को बैलों को भाँग खिलाते हुए भी देखा है, वह कहता था, भाँग के नशे में बडा बढिया काम करता है पशु !"

चाचाजी हँसने लगे।

"मानता हूँ मैं, पुराने अभ्यास की जड उखाडने तक अवश्य कुछ शारीरिक कष्ट होगा मुझे। फिर जब मै इस विष-प्रभाव से मुक्त हो जाऊँगा तो तब देखिएगा चाचाजी। लेकिन मैं नमक और चीनी को शरीर से अधिक मन का शत्रु समझता हूँ। मन को अतिशय चपल बनाने में इन रसो का मुख्य हाथ है।"

त्याग-पर-त्याग बढ चले पंडितजी के। ग्रामों मे जूतों का उपयोग बहुत कम होता है। जब होता भी है, तो कदाचित् पैरों की रक्षा के लिए इतना नहीं होता, जितना उसकी शोभा बढ़ाने को होता है। ग्रामवासी जब नगर की ओर अपने पैर बढ़ाता है, तब जूता ढूँढता है। पंडितजी नगर से ग्राम को चले, जूता स्वतः ही उतर गया उनके पैर से। सिर की टोपी भी त्यक्त कर दी उन्होंने। छाता और लाठी भी।

वस्त्रों मे भी कमी हुई। कुछ वस्त्राभाव कारण हुआ और कुछ त्याग की वृत्ति ने सहायता की। कोट-पतलून कभी की छोड चुके थे वह। धोती लम्बाई और चौडाई दोनों मे काटकर आधी कर दी

उन्होंने। घुटनों से ऊपर तक चली गई वह, उसके ऊपर एक खद्दर का कुरता और एक ऊनी बनियान पहनने लगे। ऊनी बनियान केवल जाड़े का साथी था उनका। इस बार जाड़े मे वह उसका भी बहिष्कार कर लेने पर निश्चय मति हो रहे थे।

एक बोरे में पुआल भरा उनके बिछाने का गद्दा था। भूमि पर शयन करते। ऊन की एक-दो पंखियाँ ओढ़ते। धीरे-धीरे बर्त्तनों का उपयोग भी छोड़ दिया। पत्ते बिछाकर भोजन करते और ओख से प्यास बुझाते।

सिक्कों का उपयोग क्या स्पर्श भी नहीं करते थे वह। संपत्ति के नाम पर केवल त्याग ही था उनके पास। पुरुखाओं के घर में कोई कमरा न था उनका, न कोई संदूक ही था। ताली-चाबी को वह हेय दृष्टि से देखते थे। कुरते मे जेबें कटवा चुके थे, और न धोती के सिरे में ही कोई गाँठ बाँधते थे।

गाँव में आकर ग्रहण के नाम पर एक संग्रह अवश्य किया था उन्होंने। वह था यज्ञ-सूत्र। नागरिक जीवन में जिसे उन्होंने एक बंधन समझा था, जिसे तोड़कर फेंक दिया, था उसे ग्राम में आकर फिर पहन लिया था, चाचाजी के डर से संध्या का अभिनय करने को। धीरे-धीरे वह अभिनय नियमित हो जाने से उनकी प्रकृति मे गहरा धँस गया और वह उसे जीवन के युद्ध की स्फूर्ति समझने लगे।

नगर से सेफ्टी, साबुन, तेल, दर्पण, कैंची ले आए थे, पर कुछ दिन बाद वह सब फेंक दिए। दाढ़ी और सिर के केश भी बढ़ चले— इसे ग्रहण कहें या त्याग?

"बेटा, क्या शकल बना ली है तुमने? कैसा रहन-सहन बना लिया? किधर जा रहे हो तुम, कुछ समझ नहीं पड़ता।"

"मैं बढ़ रहा हूँ चाचाजी!"

"किधर बढ़ रहे हो?"

"ऋषियों की ओर चाचाजी! क्या वह मार्ग निषिद्ध है। ऋषि

देखे नहीं हैं मैने, पर पुराणो मे जो उनका वर्णन पढा है, वह ऐसा ही जटा-जूटधारी नही है क्या ? फिर आप क्यो मेरे इस केश-जाल में भयानकता देखने लगे ?"

गाँव के डाकिए ने आकर उनको उनके प्रान्तीय साप्ताहिक पत्र का अंक दिया। उन्होंने उसे पंडितजी को देते हुए कहा—"लो पढो।"

"नही चाचाजी, मै पढ़ना-लिखना आरम्भ नही करूँगा अब।"

"यह समाचार-पत्र है।"

"होगा।"

"यह घर बैठे मनुष्य को देश-विदेश से सम्बद्ध करता है, उसके ज्ञान को बढाता है।"

"मैं नहीं मानता यह बात। मैं तो इसे घर-घर कलह फैलाने का साधन समझता हूँ। रेल और समाचार-पत्र, ये पश्चिमी सभ्यता के दो विष-वृक्ष है। इनको हमारी एकता का सहायक माना गया है। पर गहराई पर जाइए तो इन्होने हमे छिन्न-भिन्न ही किया है।" पंडितजी ने समाचार-पत्र का स्पर्श भी नहीं किया—"पढ़ने के लिए भगवान् की प्रकृति से बढ़कर और कौन-सा पृष्ठ है चाचाजी ! संध्या, प्रभात और मध्याह्न के फेरों में नाचते हुए ये ऋतुओं के परिवर्तन ! निशीथ और अर्धनिशीथ के आकाश मे ग्रह-नक्षत्रों का उदयास्त, जन्म-जन्मांतरों की अनेक ब्रह्मांडों की कथाएं आवर्तित हैं इनमें। फिर एक झूठे भ्रम में क्यों पड़ूँ मैं ?"

"गीता भी नहीं पढ़ते क्या आजकल ?"

"वह जीवन में व्याप्त है, बिना पढ़े भी वह हमारे स्वभाव में प्रकट हो जाती है और पढ़ने पर भी यदि हम उसमे आरूढ़ न हो सके तो उस तोतापन्थी से लाभ ? परन्तु वह तो अब मुझे पूरी याद हो गई।"

"कला और साहित्य ?"

"वह भी केवल एक व्यसन है। जीवन की जटिलता है। उनका आदर्शवाद छाया-भ्रमण है। रह गई प्राकृतिकता, वह प्रकृति का अनु-

सरण है, तो शुद्ध प्रकृति की उपासना क्यों न करूँ मैं। असल को छोड़-कर क्यों प्रतिबिम्ब का अनुसरण करूँ? फिर वह मेरे शुद्ध श्रम की कसौटी पर भी नहीं उतरती।"

"समझ नहीं पड़ता यह तुम्हारा 'शुद्ध श्रम'। एक नया शब्द गढ़कर चलाने का न जाने कैसा मोह हो गया तुम्हे?"

"इस शब्द का मुझे कोई अभिमान नहीं है। आप इसे कर्म भी कह सकते हैं। अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए स्वयं जो कर्म किया जाय उसी को मै शुद्ध कर्म कहता हूँ। सभी यदि अपना-अपना काम स्वयं करने लगें, तो मालिक और मजूर का प्रश्न सहज ही हल हो जाय। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों का एकीकरण हो जाय।"

"मै तो भगवान् के लिए, बिना किसी फल की आकांक्षा के लिए जो कर्म किया जाय, उसे शुद्ध कर्म मानता हूँ।"

"मनुष्य उस विराट् की ही तो एक चिनगारी है। फलाकांक्षा! यह गीता का परम प्रसिद्ध शब्द—इसी का नाम इस युग मे वेतन, मजूरी या भाड़ा है। जब हम अपना काम स्वयं ही करने लगे तो फिर इनमें से किसी का भी अस्तित्व रह नहीं जाता। मैं अपने लिए, आत्म-पर की भावना चली गई, फिर कौन देने वाला और कौन पाने वाला?" कहाँ रही मजूरी, कहाँ रही फलाकांक्षा?"

चाचीजी ने भीतर से पुकारा पंडितजी को। वह तुरन्त ही चले गए।

चाचीजी ने दूध का गिलास उनकी ओर बढ़ाकर कहा—"लो दूध पी लो।"

पंडितजी दूर ही रुक गए—"परन्तु चाचीजी!"

"मै भी चाहती हूँ चाय छोड़ दूँ।"

"चाचाजी, और मै सोच रहा हूँ अब दूध भी छोड़ दूँ।"

"क्यों? क्यों? यह क्या तुम्हारे श्रम की उपज नहीं है? गाय चुगा लाते हो तुम, उसके लिए घास भी काट लाते हो, दूध भी तुम्हीं

दुहते हो। कुछ खाओगे-पियोगे नहीं तो परिश्रम कैसे कर सकोगे खेतो पर ?"

"चाचाजी, इस दूध पर, बछिया का स्वाभाविक अधिकार है। मनुष्य का उसे छीनकर पी जाना उस मूक और निर्दोष पशु का शोषण है, अत्याचार है। मनुष्य के जीवन के लिए सबसे बडी आवश्यकता वायु की है। उसी को प्राण की संज्ञा दी गई है। सारे पोषक पदार्थ सूक्ष्म होकर वायु में मिले हुए हैं। हम विचार के बल से उन्हे अपने शरीर में खींच सकते हैं।"

"दूध का तिरस्कार नहीं किया जाता। लो पी लो। तुम आज अपनी शुद्ध खेती लवाने जा रहे हो, बडी प्रसन्नता है तुम्हे। ऐसे अवसर पर तुम्हे क्या चाची को अप्रसन्न कर देना चाहिए ?"

पंडितजी ने मान लिया उनका कहना। एक दोना बनाकर ले आए और दूध पीने लगे—"कल से नहीं पिऊँगा।"

चाची हँस पडीं—"धातु का स्पर्श छोड दिया तुमने ? तुम तो सिद्ध-महात्मा होने जा रहे हो। पर तुम्हारा हँसिया भी तो धातु का ही है।"

"उसमें लकड़ी की बेंट इसलिए लगाई है।" पंडितजी ने दूध पीते हुए उत्तर दिया।

"सुनती हूँ, अपने हाथ से उगाया हुआ अन्न तुम स्वयं ही बनाकर खाओगे ?"

"हाँ !"

"चाची क हाथ का नही खाओगे ? उसे अछूत बनाकर परित्यक्त कर दोगे।"

"नही, नही चाचीजी। यह अर्थ कदापि नहीं है मेरा।"

"देखने वाले तो यही कहेगे।"

"कहने दो। मेरा एक लक्ष्य है चाचीजी, मैं उधर बढता जा रहा हूँ।"

"हमसे दूर होते जा रहे हो। बूढ़े माता-पिता से विभक्त होकर आ गए तुम। हमारे पास पितरो की भूमि मे तुम्हारे आ जाने से उनके लिए आश्वासन रह गया। हमारे निकट इस प्रकार उच्छिन्न रहकर तुम्हारा रहना हमारे लिए बडा कष्टप्रद हो जायगा बेटा! मैं तुम्हारे श्रम का उपजाया हुआ अन्न तुम्हारे लिए अलग बना दिया करूँगी।"

"नहीं चाचीजी। मैं तो इसके बाद अग्नि का भी त्याग करने की सोच रहा हूँ।"

"कच्चा ही खाओगे ?"

"हाँ, कुछ दिन में अभ्यास हो जाने पर वही स्वादिष्ट और सुपच हो जायगा।" कहकर पंडितजी दूध पीकर उठने लगे।

"तुम किधर बढ़ रहे हो बेटा ?"

"आवश्यकता के जाल से छूटकर, त्याग के मार्ग में। दूर-दूर, बहुत दूर चाचीजी! अनेकता से छूटकर विचार की एकता की साध में।" पंडितजी आँगन में चले गए।

चाची ने देखा, हँसिया लेकर वह अपनी पहली खेती लवाने की उमंग में खेती की ओर बढ़ गए।

कोई नहीं समझा सका पंडितजी को। वह तिल-भर भी विरत नहीं हो सके अपनी कल्पना के मार्ग से। अन्न की उपज और उसके पाक के दोनों सिरे उन्होंने अपनी मुट्ठी मे दबा लिये। अपने श्रम से वह अपने में ही प्रतिष्ठित हो गए। दर्शकों ने चाहे इस व्यक्ति को सिडी, प्रमादी और बहका हुआ कह दिया हो, परन्तु पंडितजी अपने विचारों के आनन्द में थे। उनका उज्ज्वल मुखमंडल इसकी साक्षी था। इस धीरे-धीरे परिवर्तित जीवन का उनके स्वास्थ्य मे कोई भी बुरा प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

अपने उपजाए अन्न की दूसरी खेती भी उन्होंने लवा ली। अब तो चाचाजी का रसोईघर बिलकुल ही छूट गया उनसे। नीचे एक गोठ में वह अपना भोजन बना लेते थे। रोटी-भात और उबाला हुआ नमक-

मसाले-घी से विहीन अपना ही उपजाया हुआ कोई साग।

इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। अब अग्नि के त्याग के लिये वह सन्नद्ध हो गए। पहले एक बार के भोजन मे अग्नि का सहाय्य छोड़ा उन्होंने, और फिर दोनों बार।

अब तो वह बिलकुल खेतो के ही हो गए। घर के साथ सम्बन्ध केवल शयन का ही लगा रहा। पंडितजी सोचते थे—"निद्रा का त्याग भी हो सकता होता तो? जीभ का स्वाद जीत लिया जा सकता है, पर पेट की भूख नहीं जीती जा सकती। ऐसे ही नेत्रो का रसोन्माद वश मे हो सकता है, पर नींद के आक्रमण पराजित नहीं किये जा सकते।" परन्तु पंडितजी के मानस की अनन्त गहराई में कोई पुकारने लगा—"ये सब मन के विकार है और ये सब जीत लिए जा सकते है।"

एक वर्ष कच्चा अन्न पचाते हुए भी बीत गया पंडितजी को, क्योंकि उनके मन में अग्नि-त्याग का कोई संशय या भय नहीं था, प्रत्युत एक अटल विश्वास था, जो शीघ्र ही उनकी काया मे प्रस्फुटित हो गया।

वह कहते—"मनुष्य ने स्वाद के हाथों अपना स्वास्थ्य बेच दिया है। उसने अन्न के पौष्टिक तत्वो को भूलकर जला डाला और दूध, घी, अण्डे और मांस में शारीरिक बल ढूँढने लगा। उसकी शैशवावस्था का सहायक दूध हो सकता है। उसके पश्चात् वह भी उसका स्वाभाविक भोजन नहीं है।"

कौन कह सकता था, यह चाय का शत्रु एक दिन दूध के विरुद्ध भी इस प्रकार हो जायगा।

पंडितजी प्रातःकाल चार बजे उठ जाते। शौच-स्नान के अनन्तर एक घंटे ठाकुर-गृह मे बैठकर संध्या-पूजा करते; फिर दो-चार मुट्ठी चावल, दाल, गेहूँ या तिल चबाकर एक गिलास ठंडा पानी पीते और खेतो की ओर चल देते। जाड़ा हो या गरमी, उन्हें कोई डरा नहीं सकता था। प्रकृति डरावनी है ही नहीं, यह तो मनुष्य अपनी ही दुर्बलता से घर

के भीतर छिप गया और वर्षा, तुषार, हिम और अन्धकार से मैत्री बढा ही न सका।

पंडितजी को एक पंखी कातनी ही पडी, अपने को जाड़े से बचाने को कदाचित् इतनी नही, जितना लोगो की ताडना ढक देने को।

एक कुरता, धोती और पंखी को लेकर पंडितजी पोष-माघ के तुषार पर अपना नंगा पैर रख देते और खेतो पर कुछ काम न होने पर भी वह प्रकृति-दर्शन के लिए दूर विजन मे चले जाते। तुषार ने उनके पैरो के चमडे को मोटा कर दिया और वह फटकर चीड के बल्कल की भाँति हो गया, उसकी चेतन-शक्ति भी जाती रही। पंडितजी कहते—"प्रकृति का यह वरदान है। उसने मेरे पैर को ही जूता बना दिया है। काँटा इसके नीचे अपनी नोक गँवा देता है और हिम अपना दंशन! प्रकृति को सब-कुछ सौंप देने ही से वह इस प्रकार अपनी दया दिखाती है।"

भोजन मे अग्नि का सहयोग छोड देने के पश्चात जाड़े की ऋतु आई। गाँव मे आग के चारो ओर लोगो का मंडल घिरने को प्रस्तुत हुआ। एक ग्रामवासी ने पंडितजी से पूछा—"अग्नि तो सबको पवित्र करती है, तुम क्यो उसकी छूत मानने लगे?"

"छूत नहीं मानता। आवश्यकताएं कम करने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। त्याग का अर्थ घृणा नहीं है सर्वदा।"

"तो इधर आओ, आग के निकट बैठो। बडी ठंडी हवा बह रही है। हाथ सेंक लो।"

"नही। अग्नि को नमस्कार किया है।"

"हाथ सेंक लेने से कौन धर्म बिगड़ जायगा?" नमस्कार भी होता रहेगा। अग्नि का बना भोजन छोड़ रक्खा है, आग सेंकना दूसरी बात हुई।"

"अन्न भी शरीर-रक्षा के लिए ही है और अग्नि-सेवन भी उसी के लिए।"

"यह भी एक अनावश्यक आवश्यकता है। आग जितना सेंको उतना ही जाडा लगता है। आग आलस्य को बढाकर अंग को शिथिल कर देती है।"

"धूप तो सेंकते ही हो।"

"वह दूसरी बात हुई। सूर्य और अग्नि ये दो भिन्न-भिन्न देवता है।"

और उस पहाड की शीत ऋतु मे पंडितजी अग्नि-परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। वह जाडे-भर अग्नि से दूर ही रहे।

गेहूँ की खेती लवाते-लवाते एक दिन पंडितजी ने सोचा—"प्राणी जब तक माता की गोद मे रहता है उसके भोजन का प्रबन्ध स्वयं ही हो जाता है। केवल दूध पीने ही का परिश्रम उसे करना पडता है। इसके पश्चात् जब वह माता की गोद छोडकर धरती माता के अक में आता है, तब ?—तब—" पंडितजी ने कुछ क्षण विचार किया—"तब भी तो धरती माता उसके भरण-पोषण के लिए नाना प्रकार के कन्द-मूल, फल-फूल उपजाए खडी रहती है। जब सब कुछ प्राकृतिक संकेत से हो रहा है, तो मनुष्य के श्रम नामक कौनसी वस्तु शेष रह जाती है। जब श्रम ही न रहा तो फिर कैसी उसकी अशुद्धि और कैसी शुद्धि ?"

"तब क्या मनुष्य भोजन करने के श्रम के अतिरिक्त भोजन उपजाने का श्रम करने के लिए बाध्य नहीं है ?" अपने ही से वह प्रश्न पूछकर पंडितजी ने स्वयं उत्तर दिया—"नहीं है। तब क्या केवल विचार करने के लिए ही मनुष्य की सृष्टि हुई है ? विचार की कर्म-परिणति भौतिक बन्धन बढाती है उसका प्रवाह बाह्य नहीं अन्तर जगत की ओर होना चाहिए। क्या है विचार से ऊपर ? उसकी पकड में न आ सकने वाली एक धूमिल संज्ञा—आत्मा। कर्म की एकता साधने से जिस प्रकार विचार इन्द्रियों की पकड मे आ जाता है, निश्चय ही ध्यान की धारणा उस इन्द्रियातीत संज्ञा का अर्थ खोल देती है।" पंडितजी ने हँसिया

भूमि पर डाल दिया और हाथ की बालें भी ढेर मे जमा कर दीं।

एक मेंड के ऊपर बैठ गए। बहुत देर तक कुछ विचार करने के अनन्तर उठ गए—"यह श्रम एक कृत्रिमता है। खेती मनुष्य का स्वाभाविक उद्यम नहीं है, एक बनावट है। इसीलिए आत्मशोध में लगे हुए ऋषि-मुनियो के लिए खेती एक निषिद्ध वस्तु थी। हल ही नही, कुदाल भी उतना ही अपवित्र है, हँसिया भी उतना ही दूषित।"

उनके खेतो के बाहर बटिया से कुछ गायें चरने के लिए वन को जा रही थीं। पंडितजी उधर दौडे। उन्होंने अपने खेत की बाड के काँटे हटाकर उसमे मार्ग खोल दिया और समस्त पशुओ को अपनी लहलहाती हुई खेती के बीच में छोड दिया।

पीछे-पीछे चला आता हुआ चरवाहा बालक चकराकर पूछने लगा—"पंडितजी, आप तो प्रसन्न होकर ताक रहे है। कैसे चली गईं यह ?"

"मैने ही तो हाँक दीं।" पंडितजी हँसने लगे।

"क्यो, पका हुआ पचा नहीं आपको, कच्चा भी भारी हो गया ?"

"हाँ भाई।"

"फिर खायँगे क्या ?"

"माता के रहते हुए बालक को क्या चिन्ता है खाने की ?"

"आपकी माता तो नगर में हैं, क्या वहीं फिर लौट जायँगे आप ?"

"क्यो लौट जाऊँगा ? लौटना कायरता है। नगर छोड़कर ग्राम में आया हूँ तो यहाँ से आगे ही बढ़ूँगा न ?"

"आगे कहाँ ?"

"वन के एकांत मे।"

"वहाँ से फिर आगे ?"

"पहाड की चोटी पर।"

"वहाँ से ?"

"वहाँ से आगे भी स्थान है बालक !"

चरवाहा पंडितजी की बातों से आश्चर्य मे पड गया। हरी-भरी खेती पर गाएँ मुँह मार रही थीं। वह बालक, अनभ्यस्त दृश्य सहन न कर सका। विवशता से वह लाठी उठाकर उन्हे हाँकने को बढ़ा।

पंडितजी ने रोक दिया उसे—"खाने क्यों नहीं देते। मै जो कह रहा हूँ।"

"वे तो बालें भी खा जा रही हैं।"

"तुम्हारे लालच उत्पन्न हो रहा है। मैं समझता था सिक्का ही लालच उत्पन्न करता है। अन्न भी तो ! सिक्का यदि भरे पेट का लालच है तो अन्न भूखे पेट की संघर्ष-ज्वाला। तुम अपने लिए बचा सकते हो इन बालों को।"

बालक ने संकोच में पडकर पूछा—"आप ?"

"कह तो चुका हूँ। मुझे माता की करुणा का आश्वासन मिला है। वह माता धरती माता है। वह हल से उत्पीडिता रो-रोकर चिल्लाती है। मैने उसका रुदन सुना है। वह कहती है—मनुष्य के भरण पोषण के लिए मैने क्या नहीं उपजा रक्खा है ?"

"किसानी समाप्त हो गई आपके ? पत्ते चबायँगे फिर क्या आप ?"

पंडितजी हँसे—"क्यों ? पत्तों में कुछ तत्व नहीं है तो गौमाता के स्तन मे वह धारा कहाँ से आती है ?"

"काट लूँ फिर मैं इन बालों को ? आपके चाचाजी असन्तुष्ट तो न होंगे ?"

"नहीं। यह हँसिया भी मैने तुम्हें दे दिया।"

पंडितजी घर की ओर चल दिए और चरवाहा हँसिया उठाकर पशुओं को एक ओर हाँककर बालें अपने लिए जमा करने लगा।

बडे अन्यमनस्क भाव से पंडितजी आँगन में चाचाजी के निकट बैठ गए।

"क्यो बेटा ! कैसे लौट आए इतनी जल्दी ? तुम तो गेहूँ लवाने गए थे।"

"मैंने पशुओ के लिए तोड़ दी खेती की घेर-बाड।"

"क्या कहते हो ?"

"सच ही चाचाजी ! खेती मनुष्य का स्वाभाविक कर्म नहीं है।"

"फिर क्या होगी अब तुम्हारे शुद्ध श्रम की परिभाषा।"

"मैंने सिक्के की कृत्रिमता से घबराकर नगर छोड दिया अब रोटी की बनावट से भी आगे बढ़ जाना चाहता हूँ।"

"किधर ?"

"दुर्भेद्य एकान्त के भीतर।"

"परन्तु मनुष्य को भूख लगती है और भूख श्रम चाहती है।"

"जिस प्रकृति ने उसके भूख उपजाई है, उसी ने उसके लिए भोजन भी। शरीर की चिन्ता ने प्रकृति के विश्वास मे मिलकर श्रम का अस्तित्व मिटा दिया।"

"तुम चतुर्मुखी वर्णात्मकता के पोषक थे।"

"चार दो में मिल गए चाचाजी—वह दो भीतर और बाहर की गिनती है। उस दो का कलह मिटाकर उसकी एकाकारिता ही हमारा लक्ष्य है। शूद्र वैश्य मे लीन हो जाता है, वैश्य क्षत्रिय में और क्षत्रिय ब्राह्मण में, केवल ब्राह्मण ही शेष रहता है ब्रह्म की व्याहृति के लिए।"

चाचाजी मन-ही-मन प्रसन्न हो उठे, पर उस प्रसन्नता को दबाकर बोले—"मनुष्य के जीवित रहते, वह कर्मों से नहीं छुट सकता, फिर तुम कैसे श्रम का लोप कर सकोगे ? केवल इन्द्रियो का बाहरी संसर्ग ही कर्म नहीं है उनकी मानसिक गति भी तो एक श्रम ही है।"

"आप विचार को एक कर्म ही कह रहे हैं ?"

"है तो वह।"

"मान लेता हूँ इसे।"

"फिर तुम्हारे शुद्ध श्रम की क्या व्याख्या हुई ?"

"है चाचाजी, कदाचित् यहाँ पर हम-दोनो के विचार एक हो गए। विचार को श्रम मान लेने पर है उसकी परिभाषा भो।"

"सुनूँ तो।"

"केवल भगवान् के अर्थ जो श्रम किया जाता है वही शुद्ध श्रम है। आपने भी तो एक दिन यही कहा था। केवल विचार की अन्तरगति।"

"फिर क्या करोगे?"

"केवल त्याग, समस्त बन्धन काटकर शून्य एकान्त में बढ जाऊँगा। सब कुछ त्याग देने से कुछ भी नहीं करना पडेगा।"

"जप-तप, ध्यान-योग?"

"इनका भी त्याग! कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। इच्छा नाम की जो शक्ति है, संकल्प नामक जो उसका साधन है, फल-सहित इन तीनों का न्यास, चाचाजी!"

"धन्य हो! चिरंजीव होओ बेटा!" हठात् चाचाजी के मुख से आशीर्वाद निकल पडा।

ग्यारह

. . . .

चोर-बाजारी से अच्छा धन कमाकर उसकी बुनियाद पर लछमियाँ ने फल फूल और सागपात की ठेकेदारी आरम्भ की।

क्लीनर से ड्राइवर हुआ वह। फिर अपनी मोटर खरीद ली। हमदम का साथ नहीं छोड़ा उसने। हमदम एक विरक्त प्रकृति का मनुष्य था। धन के लालच मे पडे हुए लछमियाँ को उसमें कोई भय नहीं दिखाई दिया।

हजार-पाँच सौ रुपया व्यय कर लछमियाँ ने भूमिया के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा दिया और साफ-सुथरे कपडे पहन सम्भ्रान्त मनुष्यों की श्रेणी में परिगणित हो चला। उसने समझा क्लीनरी का समस्त मैल धुल गया।

गाँव में माता-पिता के लिए उसने सुन्दर पक्का मकान बनवा दिया। पधानजी की दासता से मुक्त कर देने के लिए कुछ भूमि भी उनके लिए क्रय कर ली उसने।

माता-पिता बार-बार उससे विवाह करने का अनुरोध करने लगे; और वह भाँति-भाँति की बातो से टालमटोल करने लगा। उसके मन में तो परुली का परिचय बढ़ता जा रहा था। वह नृत्यबाला लछमियाँ से विवाह कर लेने को सब प्रकार से सहमत थी, लछमियाँ भी। किन्तु समाज की उपेक्षा कर सकने लायक उसके पास न तो सामर्थ्य थी और न ही धन।

वह रात-दिन धन बढ़ाने की धुन में रहने लगा। खाते-पीते, सोते-जागते, वही स्वप्न देखता। वह कहता—"धन का बढ़ना ही असली बढ़ना है। बढिया ऊँचा मकान—साफ-सुथरा, कई तलों का, रंग-वार्निश, से चमचमाता हुआ। धरती से ऊँचा फरनीचर कि खाना-पीना, जागना-सोना, हँसना-बोलना, खिलना-खेलना, फूलना-फैलना सब ऊपर-ही ऊपर। तार, नल और नालियों द्वारा आकाश-पाताल से उसके जोड़ लगे हो। बाहर बिजली, भीतर बिजली। बैठक मे बिजली, रसोई में बिजली, आँगन में भी वही और स्नानघर मे भी वही और उसी का स्विच सिरहाने दबाए शय्या पर। कुछ खटका हुआ नहीं कि खट से दबाया और उजाला कर लिया। न दिया, न दियासलाई। कितना सुभीता, कितनी सरलता से? सुभीता ही तो सभ्यता है। कम-से-कम कष्ट उठाना ही सभ्यता है।"

"गरम पानी का अलग और ठंडे पानी का नल अलग। जरा कान मरोड़ा नही कि प्रकट हो गई गंगाजी। बटन दबाया चूल्हा तैयार; चाहे कमरा गरम कर लो चाहे खाना बना लो—न लकडी की आवश्यकता न कोयले की, न राख और न धुँआ। टेलीफोन हाथ में लो तो यार-दोस्तो से बाते कर लो और रेडियो की कील घुमा दो तो सारी दुनिया के समाचार सुन लो पडे-ही-पडे। बडे-बडे गवैये आपके यहाँ आकर गाना सुना जायँगे, भारी-भारी एक्ट्रेसें आकर अपनी-अपनी कला दिखा जायँगी और महा-से-महा नेता अपने संदेश बिठा जायँगे आपके कानो मे। क्या यही बढना नहीं है? और इस बढने की जड़ में धन ही एकमात्र आवश्यकता नहीं है? जो आलसी है, वही धन के संग्रह को माया कहता है, वही सभ्यता को झूठी आवश्यकताओं का जंजाल बताता है। सुख का मूल्य कहाँ समझ पाता है वह?"

एक दिन लछमियाँ ने हमदम से कहा—"उस्ताद, अब तो बहुत धूल फाँक चुके इन मोटर की सडकों पर। चक्का घुमाते, रेंच ऐंठते, पम्प करते हवा बिगड गई, अब तो कुछ और आगे बढ़ जाने की इच्छा है।"

"होगी भैया," हमदम ने लछमियाँ की पीठ में अच्छी थपकी जमाई, "तुमने तो माल जमा किया है परुली के पास। हमदम, जनम का फक्कड, वह किस बूते पर इतना बडा बोल बोल सकता है।"

"उस्ताद, लछमियाँ का सब-कुछ आपका है। हलद्वानी में जमीन का हिसाब लगाया है मैंने। एक मकान खडा कर लेंगे वहाँ, जान-पहचान सबसे है। चूने-पत्थर की कमी नहीं। पेच-परेक, लोहा-लक्डी खींच ही लायँगे कहीं-न-कहीं से।"

"तुम्हारे भीतर तो यह पैसा बोल रहा है। मै कैसे तुम्हारी हाँ-में-हाँ मिलाऊँ। मेरे पास तो कानी कौडी भी नही है।"

"मैं कब तुमसे माँगता हूँ? मै सब-कुछ स्वयं ही कर लूँगा। लछमियाँ की साख बढ़ चुकी है। दस जगह से उसकी कमी उधार से भी भर सकती है। परुली भी कुछ अपना रुपया दे देगी।"

"लेकिन यह परुली!"

"उस्ताद, तुमने केवल उसका गाना ही सुना है।"

"मैंने कब उसके गाने की तारीफ नहीं की?"

"आपने अगर उसका दिल भी टटोला होता, तो आप जानते, परुली में एक कलाकार से कहीं बडी नारी का निवास है।"

"एक तो नर्तकी फिर कुछ पढ़ी-लिखी, बातों की जादूगरनी; उसने तुम्हारी खोपडी पर ऐसी लकडी घुमाई है कि उसके सिवा तुम्हे कुछ और दिखाई ही नहीं पडता दुनिया में!"

"तुम भूलते हो उस्ताद। तुम नहीं जानते परुली किस चीज की बनी है।"

"वह तुम्हारी सारी पूँजी हड़प जायगी और डकार भी न लेगी। अगर तुम्हारे यह मकान बनाने का नकशा उसके चंगुल से अपनी रकम ऐंठ लेने का है, तो बात कुछ जँचती है। लेकिन इस भयानक मँहगी में कोई बना-बनाया मकान खरीदते तो ठीक था। लेकिन मैं कहता हूँ मकान ऐसा क्या बडा ज़रूरी हो गया?"

"तुम्हारे रहने को, मै भी रहूँगा।"

"मै क्या रहूँगा। अरे हमदम के लिए तो वह मोटर की पटरी ही काफी है। उसी मे करवटें बदली हैं, उसी मे बदलता रहूँगा।"

"नीचे गोदाम होगा, ऊपर आफिस और उसके ऊपर हम लोग रहेगे। मोटर चलाने के लिए नौकर रख लेंगे। दफ्तर चलाने को एक बाबू। एक टूटा टाइपराइटर खरीदा है मैंने, सहज ही उसकी मरम्मत हो जायगी। बिजिनेस करेंगे उस्ताद, कमीशन एजेंट बनेंगे। माल ढोने को दो मोटरें हैं ही, एक-दो और खरीद लेंगे।"

"मै क्या करूँगा उस मकान मे रहकर? मै तो इसी चलते-फिरते मकान का कीडा हूँ, वही पसन्द है मुझे।"

"नही उस्ताद, तुम केवल बैठे रहना। मौज आवे तो कुछ देखभाल करना, नही तो आराम करना। जीवन मे दिन-रात घोर परिश्रम किया है। चौथापन आराम के लिए है और भगवान् की याद के लिए।"

"परुली कहाँ रहेगी?"

"उसी मकान मे।"

"हा! हा! हा! तब यह सारे ठाठ उसके लिए रचे जा रहे है। हमदम क्या रहेगा उसमे?...मकान किसके नाम मे होगा?"

"नाम में क्या रक्खा है, काम से है मतलब। नाम सब यहीं रह जाता है उस्ताद!"

"तभी तो मैं कहता था यह परुली तुम्हे रुपया क्यो देने लगी? वह जरूर मकान अपने नाम में करायगी।"

"पर उसका मन मेरे नाम मे है।"

"झूठी बात!"

"बिलकुल सच उस्ताद!"

"क्या वह तुमसे विवाह करने को राजी है?"

"उसके मन, रूप और कला की विशालता को बाँधने के लिए विवाह की डोरी बहुत छोटी है उस्ताद! मै चाहूँ तो वह तैयार है,

लेकिन मैं ही उसे इस छोटे-से बन्धन में जकड़ देना नहीं चाहता।"

"हूँ," हमदम ने कुछ सोचकर कहा, "मैं समझता था, मकान के बहाने तुम उसके पंजे से अपना रुपया छुडा लोगे, पर यहाँ तो तुम खुद ही उसके पास गिरवी पड़े हुए हो।"

"नहीं उस्ताद! लछमियाँ इतना सस्ता नहीं है। दुनिया में भगवान् को मानता हूँ। उनके बाद आपके लिए आदर है मेरे मन में। आप उस्ताद हैं; आपने बढावा दिया है, बढ़ाया है। और इस परुली को भी मानता हूँ। आपसे मेरी भलाई-बुराई कुछ छिपी नहीं है। परुली के रूप, आभूषण और विद्या की बात भी छोड दीजिए; उसके हृदय मे भलाई है और है प्रेम।"

"वेश्या के पास प्रेम? चील के घोंसले में माँस?"

"तुम नहीं कह सकते उसे वेश्या। वह केवल गीत का सौदा करती है, प्रेम का नहीं। यह आपको मालूम है।"

"अरे उसकी बात भले-भले नही जान सकते, यह बेचारा हमदम एँजिन-पहिया, ब्रेक-गियर, चक्के-पहिए, पम्प-भौंपू की बात जानता है सिर्फ। उसे क्या मालूम है?"

"उस्ताद, तुम मेरे आगे बढ़ने के डायनेमो हो तो वह मुझे आगे बढ़ाने का सितारा है।"

"सितार हो या सितारा, यह खटराग कुछ नहीं समझता,मै। तुम्हीं यह सब आर्ट जानते-पहचानते हो। मै तो सिर्फ भौंपू के राग को जानता हूँ, जो सामने पहिए के नीचे दब जाने से आदमी को इधर-उधर करके बचा देता है। तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। 'सिर्फ सितारे को ही देखते हुए न रह जाना, जमीन में ठोकरें भी हैं।" कुछ विरक्ति का-सा भाव दिखाकर हमदम मुँह फिराकर बैठ गया सड़क की एक दीवार पर। उसने बीड़ी सुलगाई।

बात तिपनियाँ की थी। लछमियाँ भी कुछ रिसाकर बैठ गया। वह उस्ताद के स्वभाव को जानता था। उसे पक्का विश्वास था, कुछ

देर न बोलने पर हमदम अपने-आप मन का सारा मैल धोकर फिर उससे बोलने लग जायगा।

लछमियाँ ने जेब से हिन्दी की वर्णमाला की किताब निकाली और पढने लगा—"क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः; ख, खा—"

हमदम तुरन्त ही उठकर उसके सामने खडा हो हँसते हुए कहने लगा—"यह क्या है रे?"

"पढना-लिखना सीख रहा हूँ।"

"स्कूल मे नाम लिखायगा?"

"लिखा ही हुआ है।"

"किस स्कूल मे?"

"परुली के स्कूल में। उसी ने पढने लिखने की ओर मेरी रुचि बढ़ाई है। पढ़ना-लिखना भी आगे बढ़ने का सहायक है। पंडितजी के स्कूल मे जो बात छूट गई थी वह परुली के स्कूल में मिली उस्ताद। मै क्यो न उसके हृदय की बडाई करूँ। एक ही दिन मे उसने मुझे हिन्दी के एक दर्जन स्वर और तीन दर्जन व्यंजन लिखा दिए। स्वर और व्यंजन का मेल मिलाकर बारहखड़ी की पलटन तैयार कर देना अब मेरे बाएँ हाथ का खेल है। आप कहे तो आपको भी सिखा दूँ।"

"अब इस बुढ़ापे मे क्या सीखूँ?"

"विद्या और धन कमाने के लिए आदमी को कभी अपने को बूढा नहीं समझना चाहिए।"

"फायदा क्या है?"

"अखबार पढ़ेंगे, ठाठ से। दुनिया किधर बढ़ रही है मालूम होगा, हिसाब लिखेंगे, चिट्ठी-पत्री लिखेंगे। अँगूठा टेकने की बेइज्जती से बचने के लिए अभी तक बैंक में हिसाब नहीं खोला है मैंने।"

"बैंक में हिसाब?" चकराकर हमदम ने पूछा।

"हाँ उस्ताद!"

"रुपया कहाँ है ?"

"परुली के पास।"

"वह दे देगी तुम्हे जमा करने को ?"

"वही तो कहती है। उसी ने तो यह सुझाया। इसीलिए तो यह सारी मेहनत है। ख, खा, खि, खी, खु, खू, खे, खै, खो, खौ, खं, खः।"

"अबे, अब पढकर क्या होगा ? अब तो तू पैसे के चक्कर में है।"

"उसी के लिए पढ रहा हूं। बात यह है परुली से उसके किसी मित्र ने यह प्रतिज्ञा कराई है कि वह किसी एक मनुष्य को हस्ताक्षर करना सिखा देगी। और उसके हृदय की विशालता देखिए उसने सिखाने को मुझे छाँटा है।"

"इससे क्या होगा ?"

"परुली कहती है, मैं अपना रुपया बैंक मे रख लूँ। चेक बुक मे हस्ताक्षर करने को यह आवश्यक है। चस्का लग गया तो फिर धीरे-धीरे अख़बार भी पढ़ने लगूँगा और चिट्ठी भी लिखने लगूँगा। उस्ताद, देखा आपने ? कैसी बुद्धि रखती है यह परुली ? उसकी प्रतिज्ञा और मेरा लालच ! दोनों एक-साथ ऐसे जुड़े कि एक ही दिन मे मैंने हिन्दी की सारी वर्णमाला याद कर ली। तुम भी सीख लो, तुम्हें मैं सिखा दूँगा हमदम, एक ही दिन में; बड़ी सरल है।"

"मुझे कौन बैंक में हिसाब खोलना है ?"

"अखबार पढ़ना।"

"वाहियात बात।"

"हमारे आपस के प्रेम के लिए जरूरी, रुपये-पैसे का हिसाब रखने के लिए ज़रूरी। दफ्तर खोलेंगे तो क्या जाने मुंशी किस पर हस्ताक्षर करा ले, उसकी जाँच के लिए भी आवश्यक। रुपये से गँवारों पर रौब जमता है तो विद्या से बड़े-बड़े आदमियों के होश ठिकाने लगा दिए जाते हैं। मैं कहता हूँ आगे बढ़ने के लिए यह बहुत ज़रूरी है।"

"क्या है आगे बढना ? कुछ नहीं। कौन आगे बढ रहा है ? कोई भी नहीं। हलद्वानी से चलकर पहाड का चक्कर लगा हम फिर वहीं पहुँच जाते है।" उस्ताद बोले।

चेले को याद आ गया उसका वह स्कूल। 'बढ चलो' का गीत गाते हुए, स्कूल की परिक्रमा कर वह वहीं पर आ जाता था। लछमियाँ मन मे कहने लगा—"उस्ताद ठीक ही तो कह रहे हैं।"

"कोई नहीं बढ रहा है बेटा ! सिर्फ उमर मे बढ रहे है सब, और उमर मे बढ़ना है, मौत के नज़दीक बढना। कनपटियाॅ सब सफेद हो चलीं हमदम की। दाँतो की जडें हिल गईं।"

परन्तु इस वैराग्य का लछमियाँ के नवीन रक्त मे कोई काँटा नहीं चुभा। वह बोला—"चलिए, बम्बई चलिए।"

"किसलिये ?"

"एक जंतर लगा रहा हूँ परुली के साथ। लेकिन कुछ पैसा और कमा लूँ। अगर चल गया चक्कर, तो रुपये का ढेर लग जायगा।"

"क्या करोगे बम्बई जाकर ?"

"सिनेमा कम्पनी, उस्ताद। परुली की विद्या का आदर कौन करता है यहाँ ? मैं उसे सिनेमा की कम्पनी मे एक्ट्रेस बनाकर घर-घर उसकी फोटो सजवा दूँगा।"

"लेकिन हमदम कहीं नहीं जायगा।"

"और लछमियाॅ भी तुम्हे नहीं छोड़ेगा।"

लछमियाॅ ने कुछ ही दिनो मे पढ़ना-लिखना दोनों सीख लिये। किसी भी काम मे उत्कट रुचि के उत्पन्न हो जाने से उसकी सारी कठिनता चली जाती है। हाथ में पुस्तक ले लेने से लछमियाँ समझता था, अब सार्थक हुआ है चश्मा पहनना।

उसकी मास्टरनी ने परम सन्तुष्ट होकर उस दिन कहा—"इतने थोडे समय मे तुमने पढ़ने-लिखने में जो उन्नति दिखाई, उससे बडा आश्चर्य है मुझे।"

"तुम-सी मास्टरनी मिल जाने पर कौन नहीं सीख जाता ? मेरे नही, यह तो तुम्हारे ही गुण हैं।"

"यदि समय पर पढ़ना आरम्भ कर लेते तो न जाने कहाँ पर होते ?"

"शब्दो का भंडार तो पंडितजी ने बढ़ाया था मेरा, न जाने क्यो अक्षरों पर परदा डाल दिया। गाना भी सिखाते थे हमें। लेकिन मुझे तो नहीं आयगा कभी। सुनने का चाव बहुत है मुझे। गीत के स्वरों का तुम्हारा फैलाव सारी सृष्टि को ढक लेता है, उस समय मेरी सारी सुध-बुध उस तन्मयता मे खो जाती है। पर यहाँ कौन तुम्हारा गीत समझता है ?"

परुली हँसने लगी।

"तुम अद्भुत परी हो, तुम्हे एक अनुरोध मानना ही पडेगा मेरा।"

"कैसा अनुरोध तुम्हारा ?"

"यही जो इतने दिनों से कह रहा हूँ तुमसे। तुम्हें पब्लिक में गाना बंद कर देना चाहिए।"

"क्यों ?"

"क्योंकि कला को बेचना, उसको लांछित कर देता है।"

"फिर खाऊँगी क्या ?"

"कला आत्मा की तृप्ति है। ऐसी लोक-तृप्ति का साधक कलाकार, उसके कोई भूख नहीं है। मैं इस प्रतिभा को योग्य आसन में स्थापित करूँगा। मेरे ऊपर रहा तुम्हारे भोजन का उत्तरदायित्व। तुम बहुत ऊँचे रहने के लिए बनाई गई हो। यह तिपनियाँ का वायुमंडल कदापि तुम्हारे योग्य नहीं है। इनमें से एक भी तुम्हारी कला को नहीं समझता। तुम्हारे प्रत्येक गीत के आदि, मध्य और अन्त में जो ये 'धन्य-धन्य' की ध्वनि लगाते हैं, वे सब झूठे हैं। नहीं, नहीं, मैं तुम्हें इस तरह लोफरों की मंडली में अब गाने देना नहीं चाहता।"

'फिर कहाँ ले जाना चाहते हो तुम मुझे ?"

"यह तो अभी कुछ स्पष्ट नहीं बता सकता, पर एक उज्वल और चमकते हुए जगत मे तुम्हे ले जाना चाहता हूँ ।"

"कहाँ है वह जगत ?"

"अभी तो हलद्वानी मे एक मकान बना रहा हूँ, वहीं रहोगी तुम सबसे ऊपर के तले मे। बीच के तले में हमारी कम्पनी का दफ्तर खुलेगा और सबसे नीचे के तले में खुलेगी हमारी दूकान ।"

"लेकिन लछ्म, मैं अपनी कला के लिए लोगो की भीड चाहती हूँ, तुम कहाँ मुझे एक कमरे मे बन्द कर देने के इच्छुक हो गए ? मैं स्वयं गाकर स्वयं ही नहीं सुनना चाहती ।"

"मूर्खों की भीड से दस-पाँच समझदारों की भीड कुछ बुरी नहीं। तुम्हे अधीर न होना चाहिए। मै तुम्हे ऐसी जगह से गवाऊँगा कि तुम्हारी श्रोता सारे भारतवर्ष की जन-संख्या होगी। अभी कुछ दिन हलद्वानी चलो तो सही ।"

"अगर वहाँ वालों ने भी वेश्याओं को निकाल बाहर करने का कानून पास कर दिया तो ? तो क्या होगा ?"

"इसीलिए तो तुम्हें मेरी बात माननी चाहिए। पब्लिक का संसर्ग छोडो। वही तुम्हे बदनाम करती है ।"

"केवल एक तुम्हारे बंधन में पड जाऊँ ?"

"हाँ। मैं घर-घर तुम्हें प्रसिद्ध कर दूँगा। हर कमरे में तुम्हारा चित्र टँगा होगा, और प्रत्येक होंठ पर होगा तुम्हारा गीत। पर यह तभी होगा जब तुम जनता के बीच में से अपने को हटा लोगी ।"

"जनता में फैला देने की बात भी कहते हो और जनता से हट जाने की भी ।"

"हाँ यह लोलुप और लंपट है जनता ।. मैं कह चुका हूँ इसने तुम्हें यह कलुषित 'वेश्या' का सम्बोधन दिया है। और इसी सम्बोधन पर तुम्हें नगर-निकाला मिला है ।"

"यह सम्बोधन कैसे मिटा दोगे तुम ?"

"तुम पब्लिक में गाना छोड़ दोगी और तुम्हारा नाम रख दिया जायगा एक्ट्रेस, सिनेमा की नटी। फिर कोई तुम्हारी ओर उँगली न उठा सकेगा।"

"पर मैं सिनेमा की नटी हूँ कहाँ ?"

"इतना बढ़िया नाच-गाना जानती हो, इतना अद्भुत तुम्हारा रूप है—पढ़ी-लिखी, सभा-चतुर ! और क्या कमी रह जाती है, फिर तुम्हारे एक्ट्रेस बन जाने में ?"

"हाँ कमी तो कुछ नहीं है, लेकिन एक्ट्रेस बना कौन लेगा ?"

"जिसको आवश्यकता होगी, वह बनाएगा। मै बनाऊँगा; मैं ले जाऊँगा तुम्हें बम्बई।"

"तुम ले जाओगे ?"

"हाँ कोई संशय मत करो। वास्तव मे जाओगी तो स्वयं ही अपनी योग्यता से; केवल एक निमित्त मात्र का साथी मैं रहूँगा तुम्हारे। पंडित जी की संगति में कल्पना बढ़ाकर मोटर की सड़क पर आया; हमदम की कृपा से मैने धन जोड़ने का रहस्य पाया, और तुम—तुम एक अद्भुत शक्ति हो, तुमने विद्या का भेद खोलकर मुझे सभ्य बना दिया। पंडित जी ने मोटर का केवल रूप दिया, हमदम ने उसकी प्रत्यक्षता, परन्तु बढ़ जाने का मार्ग-निर्देश तुमने किया—परी !"

"तुम कहाँ ले जा रहे हो लछम मुझे ? नहीं जानती; मुझे भय लग रहा है।"

"तुम्हे निर्भय होना चाहिए।"

"तुम्हारा एकांत बंधन ! तुम विवाह के बंधन में तो न जकड़ लोगे मुझे ?"

"नहीं, मैं इतना स्वार्थी नहीं हूँ।"

"मेरे गीत-प्रेमियों का क्या होगा ?"

"उन्हें अखबारों के विज्ञापनों में तुम्हारे नाम की प्रतीक्षा करनी

होगी। वे झूठे गीत-प्रेमी हैं। वे तुम्हारे नगर-निकाले के कारण हैं।"

"लेकिन तुम आग को अपने हाथों में बाँधकर न रख सकोगे लछम!"

"दियासलाई की डिबिया में छिपाकर अवश्य रख लूँगा।"

परुली हँस पडी।

"तुम हो तैयार?"

"हाँ—नहीं। पर पहले मकान तो बनवा लो।"

"मान लो मकान बन गया।"

"तो मान लो मैं भी आकर उसमें रहने लगी। ...लेकिन गरमियों में, बरसात में?"

"यहीं आ जाना पहाड पर।"

लछमियाँ ने हलद्वानी में मकान बनवा लिया, पूरे-पूरे अपने मन के अंकन के अनुरूप। उसकी काली बाजारी के उस शुभ्र स्तम्भ ने वायु मंडल मे मस्तक ऊँचा उठाया।

उसने मोटर ड्राइवरी छोड दी और फल-फूल के व्यवसाय में ही दत्तचित्त हुआ। एक मोटर और मोल ले ली। नौकर-चाकर ही उन्हें चलाने लगे। उसने पूर्व निश्चय के अनुसार अपने नए मकान मे दूकान भी खोली और दफ्तर भी। उसके मार्ग की नक्षत्र परुली, उसके विचारों पर माथा नवा उसके एकांत बंधन में आकर रहने लगी।

उसने अपने पुराने मित्रो से विदा ग्रहण कर ली। वह जनता के बीच मे अब कभी न गाती। कभी घर से बाहर भी न निकलती। सिनेमा देखने या बाजार जब जाती, तो अँधेरा होने पर और बडी विनय-धीरता के साथ, शील और वस्त्रो से आच्छादित होकर।

केवल एक आशा परिपूर्ण न हो सकी लछमियाँ की। हमदम का जी उखड़ गया पहाड पर से। मुख्य कारण था, उसके शरीर में आयु के वार्धक्य की दुर्बलता के साथ-साथ रोग भी रहने लगा था। पहाडी आब-हवा उसकी सहायक न हुई।

लछमियाँ ने हमदम के रोग-निवारणार्थ. हर प्रकार के उपाय किए, पर्याप्त धन भी व्यय किया। अंत में उसे लाचार होकर हमदम की बात माननी ही पडी।

हमदम अपनी गाडी बेचने को उद्यत हुआ। लछमियाँ ने उसे नहीं बेचने दिया। उस्ताद की वह गाड़ी उसकी उन्नति की अनेक स्मृतियों से जड़ी हुई, उसके आदर की वस्तु थी। वह किसी प्रकार उससे बिछुड़ जाने को तैयार नहीं हुआ। उसने बहुत अच्छे मूल्य में उस गाडी को मोल ले लिया। उसके अतिरिक्त और भी एक उचित धनराशी गुरु-दक्षिणा के रूप में अपने उस्ताद को दी। हमदम अपने देश को चला गया।

परुली के रूप और कला ने लछमियाँ की कल्पना में अनेक शाखा-प्रशाखाएँ उपजा दी थीं। उनके जाल में लछमियाँ के उस्ताद का अभाव सहज ही छिप गया। पहाड़ की ओर पीठ करके लछमियाँ ने बढ़ जाने के लिए बम्बई की ओर मुख किया। अब तो उसके पास अपना गौरव प्रकट कर सकने योग्य धन भी संचित हो गया था। उसके अध्ययन में भी बराबर वृद्धि होती गई। पत्र और पुस्तकों के पाठ से उसकी जानकारी का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

सिनेमा के रजत पट की लछमियाँ जो हवाएं बाँधता था, उन पर तो परुली का इतना आकर्षण न था, लछमियाँ के स्वभाव में अवश्य कुछ ऐसी बात थी जिसने परुली की कल्पना को अपनी ओर खींच लिया था। लछमियाँ का धन-संग्रह उसके मोह का कारण न था, पर उसकी साक्षरता निःसन्देह परुली की प्रीति को बढ़ा चली।

परुली ने अपने समस्त पूर्व मित्रों से सम्बन्ध तोड़ लिये। परन्तु कुछ ऐसे थे जिनका निराकरण हो नहीं सका था।

उसने एक दिन लछमियाँ से कहा—"लछम, तुमने जिस एकांत में मुझे बन्दी किया है, अभ्यस्त हो जाने से यह मुझे प्रिय हो उठा है।"

"तुम्हारा क्या मतलब है?"

"यही कि यह जो दो-चार तुम्हारे और मेरे मित्र यहाँ आकर उत्पात मचाते है, मुझे यह अरुचिकर हो उठा है।"

"वे सभ्य हैं।"

"नहीं, उनका उन्मत्त परिहास मेरे क्षोभ को बढाता है। मैं उन्हें स्पष्ट ताडना दे चुकी हूं। तुम्हें भी अपने द्वार उनके लिए बन्द कर देने उचित हैं।"

"किस प्रकार ? उपाय बताओ।"

"उपाय सहज है। जब तुमने मुझे बंदी किया है तो तुम्हें भी तो कुछ मेरे बन्धन मे पडना चाहिए न।"

"दिन-रात तुम्हारे ही तो बंधन में पडा हूँ।"

"मैंने सुना है, तुम्हारे पिता ने तुम्हारा विवाह ठहराया है।"

"उससे क्या होता है ? मुकुट तो मेरे सिर पर बँधेगा न ?"

"परन्तु लछुम, मेरे भी तो मुकुट बाँधने की इच्छा प्रबल हो उठी है।"

लछमियाँ कुछ नहीं समझा—"क्या मतलब है तुम्हारा ? सिनेमा कम्पनी मे चलने की बात पर आओ। वहाँ तुम नित्य नए मुकुट बाँधोगी। लक्ष्मी, सती, सीता, सावित्री पौराणिक नारियों के भी, मीरा बाई, पद्मिनी, अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई आदि ऐतिहासिक नारियो के भी।"

"सिनेमा की बात नहीं कहती मैं। मैं तुम्हारे और अपने सामाजिक बंधन की बात कहती हूँ।"

लछमियाँ कुछ समझा और घबराने लगा।

परुली ने बात स्पष्ट करके कहा—"यदि हम दोनों का विवाह हो जाय तो फिर हमारे मार्ग के ये विघ्न स्वयं ही दूर हो जायंगे। इन वाक्यों में मेरे हृदय का निष्कपट प्रेम ही तो बोल रहा है।"

"तुम्हारे साथ विवाह ?"

"क्यों अस्वाभाविकता है क्या ?"

"परी, जब मैंने अपनी सत्ता तुम पर निछावर कर दी है तो फिर

विवाह के लेबल मे ही क्या रक्खा है ?"

"मैं समझती थी तुम तुरन्त ही इसके लिए सहर्ष तैयार हो जाओगे। लेकिन तुम्हारे मन मे एक संकोच है।"

"संकोच यही है तुम कलाकारिणी हो, तुम्हारे हृदय की विशालता को मै विवाह के बंधन में नहीं बाँध सकता।"

"नहीं, इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है, मैं एक अछूत-कन्या हूँ और तुम मुझे जो प्रेम देते हो वह तुम्हारे हृदय की पवित्रता नहीं है।"

"अछूत-कन्या ! कदापि नहीं। मैं सामाजिक बंधनों को समय की गति के साथ आगे बढने मे सम्मिलित करता हूँ। मैं किसी बात मे तुम्हारी छूत नहीं मानता। तुम्हारे साथ रहता, खाता-पीता हूँ। तुम यह भली प्रकार जानती हो। तुम्हारे कारण मैंने अपनी बिरादरी के बंधन भी तोड़ दिए हैं।"

"यह सब होने पर भी तुम्हें मेरी बात माननी चाहिए। पारस्परिक विश्वास से हमारा प्रेम परिपक्व होगा। अपना सब-कुछ जब मै तुम्हें सौंप देने को प्रस्तुत हो रही हूँ तो क्यो अपनी इच्छा की स्वतन्त्रता के लिए व्याकुल हो।"

लछमियाँ सोच-विचार में पड़ गया।

"वेश्या ! क्या इतनी पतित है लछम ! समाज का निकृष्ट-से-निकृष्ट मनुष्य नगर में अपना लम्बा-चौड़ा नाम-पट लगाकर रह सकता है और पापों का कलुष ढोनेवाली वेश्या इतनी बड़ी गन्दगी है कि नगर की पवित्रता नष्ट हो जायगी उससे ?"

"मैं तो नहीं मानता यह बात। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ वेश्या स्वयं पतित होकर पवित्रता फैलाती है—एक बुहारी की भाँति, जो स्वयं गन्दा होकर स्वच्छता बढ़ाता है।"

"वह वेश्या, पवित्र हो जाने की आशा मे जब कि एक पुरुष का

हाथ पकड़ना चाहती है तो उसे अस्वीकृत कर देना तुम्हारी कायरता है या अत्याचार, क्या है लछम ?"

परुली की ताड़ना से लछमियाँ सजीव हो उठा। बोला—"लछ-मियाँ नहीं है कायर, अत्याचारी भी वह नहीं।"

"तो फिर मुझे शुद्ध करो।"

"आर्य-समाज में ले जाकर ?"

"जैसे भी चाहो। मतलब विवाह करने से है।"

"विवाह करूँगा," लछमियाँ ने परुली का हाथ पकड़कर उसे आश्वासन दिया।

शाम को झूमते-झूमते बाइसिकल मे लाल बाबू आ पहुँचे। दीपक प्रज्ज्वलित हो उठे थे। दूकान मे लछमियाँ का मुनीम हिसाब-किताब की जाँच मिला रहा था और नौकर दूकान के द्वार बन्द कर देने के लिए बाहर के बोरे उठा-उठाकर भीतर रख रहा था।

लाल बाबू ने तीन बार बाइसिकल मे घंटी देकर अपने हस्ताक्षर बजाए। लछमियाँ के पास से कोई उत्तर नहीं मिला।

फिर इसी की आवृत्ति की उन्होने। फिर कोई जवाब न मिला। उन्होने मुनीम से पूछा—"कहाँ हैं ?"

"दफ्तर में होंगे ऊपर।"

मकान के दो-तले का नीचे की दूकान से कोई सम्बन्ध न था। वहाँ जाने के लिए बाहर-ही-बाहर मार्ग बना था। हाँ, तीसरे तले पर जाने का मार्ग दो-तले के भीतर से होकर ही जाता था।

"बाइसिकल देखते रहना," कहकर लाल बाबू दफ्तर की ओर चढ़े। दफ्तर भीतर से बन्द था। जोर-जोर से खटखटाया उन्होंने उसे—"लछम! लछम!"

ऊपर के तले में परुली कह रही थी—"नहीं, कोई उत्तर न दो, एक-दो बार पुकारकर चला जायगा।"

"बात कर लेने में क्या हानि है ? तुम्हारे पास नहीं आने दूँगा। वहीं से टाल देता हूँ।"

"लछुम ! लछुम ! निकलता क्यों नहीं !"

हाथ मे टेबुल लैंप लिये लछमियाँ उतरता दिखाई पडा दफ्तर की सीढ़ियों पर ।

लाल बाबू बोले—"क्या अभी से घर के भीतर घुस बैठे हो ? संध्या हो गई और दफ्तर मे एक बत्ती भी नहीं जला सकते तुम ? इतने कंजूस हो गए हो ? ज्यों-ज्यो मोटे होते जा रहे हो, त्यों-त्यो कौड़ी के पूत बनते जा रहे हो । क्या हो गया तुम्हे ?"

लछमियाँ ने मेज पर लैंप रखकर द्वार खोला—"जी अच्छा नहीं है।" उसने बिना मित्र को कुर्सी पर बैठ जाने का संकेत दिये मार्ग के बीच में खड़े होकर कहा ।

"किसका जी अच्छा नहीं है, तुम्हारा या उसका ?"

"दोनो का।"

"चलो फिर, थोड़ी देर बातचीत करेंगे, बहल जायगा, ठीक हो जायगा जी । बड़ा बढ़िया समाचार सुनाने आया हूँ । चलो ऊपर ।"

"ऊपर नहीं । उनकी आज्ञा नहीं है ।"

"क्यों नहीं है ? मैं गाना सुनूँगा ।"

"नहीं है । जनता के बीच में गाना छोड़ दिया जब उन्होंने, फिर तुम्हारी हठ व्यर्थ है ।"

"गाती तो हैं लेकिन, हम दूर से ही सुन लेंगे ।"

"गाती हैं केवल अपने अभ्यास के लिए—कला कला के लिए ।"

"तुम तब कानो में उँगलियाँ कोच लेते हो क्या ?" लाल बाबू लड़खडाकर एक कुर्सी खींचकर बैठ गए और दूसरी पर लछमियाँ का हाथ पकड़ उसे बैठा दिया—"लेकिन दोस्त, तुम्हें अकेले-ही-अकेले उसका गाना सुनने का कोई अधिकार नहीं है । मेरी उससे तुमसे पहले की जान-पहचान है ।"

"तुम होश मे नहीं हो दोस्त, तुम्हे ऐसी हालत में घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए था।"

"घर से बाहर कहाँ हूँ? देखता नही, चारो ओर दीवारें हैं और ऊपर छत मे वह परी विराजमान है।"

"लेकिन वह मेरी हो चुकी।"

"मैं तुझसे ज्यादा रुपया उसे दे दूँगा।"

"प्रेम धन से नहीं खरीदा जा सकता। वह तो इसी से मोल लिया जाता है।"

"मोल-तोल की जब बात है तो चल उसके सामने, मैं भी अपनी बोली बोलूँगा। बिना मेरी बात सुने वह तुम्हारी हो कैसे सकती है। जो कुछ तुमने उसके लिए किया है, उससे अधिक मै कर सकता हूँ।"

"तुम नहीं कर सकते।"

"क्यो नही कर सकता?"

"क्योंकि समाज के डर से तुम चोरी-छिपे उसका गीत सुनने आते हो।"

"और तुम?"

"मैंने समाज की नाक में छेद करके उसमें रस्सी पहनाई है। पाखंड के रास्ते से हटाकर मै उसे सही रास्ते पर ले जाऊँगा। तुम नही रख सकते परी को इस तरह। तुम उसे पतित बनाने में सहायक हुए हो।"

"क्यो हुआ हूँ? तुमने कौन उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी? चलो ऊपर!"

"नहीं लाल बाबू। जोश में मत आओ। मै नहीं जाने दूँगा तुम्हें उसके पास। इसी से उसकी प्रतिष्ठा बढती है।"

"मैं ज़रूर जाऊँगा। ठीक है उसकी तबीयत, अभी वह तीसरे पहर गा रही थी।"

"अरे जाओ, जाओ, अपने घर जाओ। तुम्हारी विवाहिता पत्नी

तुम्हारी राह देख रही होगी। तुम नहीं कर सकते परी से प्रेम। केवल मैं ही कर सकता हूँ।"

"केवल तू ही कैसे कर सकता है?"

"क्योंकि मैं उससे विवाह कर सकता हूँ। तुम कर सकते हो क्या?"

लाल बाबू बोले—"वेश्या से विवाह कौन कर सकता है?"

"उसके लिए साहस चाहिए। मैं कर सकता हूँ। लाल बाबू, यहीं पर तुमने सबसे बड़ी हार खाई। जाओ, लौट जाओ अपने घर; कहो तो मैं नौकर भेजकर पहुँचा दूँ। अब इधर आने का उत्साह न करना।"

"लेकिन मित्र, बंबई से एक फिल्म-डायरेक्टर न आए हैं, यहाँ हिरोइन की तलाश में। मैं कहता हूँ अगर वह एक बार परी को देख लें, उसका गाना सुन लें तो लट्टू हो जायं। कहते तो हैं वह अगर उनके मन की एक्ट्रेस कोई मिल जाय तो मालिक की ओर से दस हजार रुपये पेशगी दे देने तक का उन्हें अधिकार है, नक़द अभी यहीं।"

"क्या समझ रखा है मुझे तुमने लाल बाबू, मैं फल-फूल का ठेकेदार हूँ। औरतों का व्यापारी समझ रक्खा है क्या तुमने मुझे?" लछमियाँ ने डाटकर कहा।

लाल बाबू कुछ नम्रता से बोले—"तुम परी को सिनेमा-कंपनी में ले जाने की बात करते थे, इसी से कहने आया था, यह सुनहरी अवसर छोड़ देने का नहीं है। ठीक सिनेमा-कंपनी तक बिना टिकट और बिना रास्ता पूछे पहुँच जाओगे। कोई धोखा-धड़ी नहीं, पेशगी यहीं मिल जायगा।"

लछमियाँ सोचने लगा—"यह कौन होते हैं, परी को सिनेमा-कंपनी में ले जाने वाले? मैं स्वयं ले जाऊँगा।" वह बोला—"नहीं मित्र, लछमियाँ किसी धोखे में पड़ने वाला मनुष्य नहीं है। वह सिनेमा-कंपनी में जायगा तो स्वयं अपने बल और परी की कला की सहायता से।"

लछमियाँ ने साहस से लाल बाबू को निराश करके उन्हें घर लौट

जाने पर विवश किया और वह द्वार बंद कर परुली के पास जा पहुँचा। उसने इतनी देर मे परुली के साथ शीघ्र-से-शीघ्र दृढ़ निश्चय कर लिया। वह सोचने लगा—"यह डायरेक्टर या कोई दूसरे, हजारों रुपयो के फेर में डालकर निश्चय परुली को मुझसे छीन लेंगे। मेरा उसे विवाह के बँधन से बाँध लेना क्या सबसे सुगम उपाय नहीं है ?"

लछमियाँ दृढ निश्चय के साथ बोला—"परी, हमारा-तुम्हारा विवाह शीघ्र-से-शीघ्र हो जाना चाहिए। तभी समय-असमय हमारे द्वार खट-खटाने वाले इन लोफरों से हमें छुट्टी मिल सकेगी।"

लछमियाँ समझता था, असाधारण हर्ष से परुली उसके प्रस्ताव का स्वागत करेगी, परन्तु उसने उस बात को टाल दिया। लाल बाबू की बातो को पूरा-पूरा सुनकर भी उसने पूछा—"क्या कह रहे थे ?"

"कुछ नही। मुँह से दुर्गंध आ रही थी। बहके हुए थे। बक रहे थे न जाने क्या-क्या ?"

"सिनेमा का डायरेक्टर कौन आया हुआ है, कहते थे ?"

"भली चलाई, बकता था। सारे नगर के समाचार तो मुझे ज्ञात रहते हैं। यह आया था मुझे चलाने ! हूँ !

"एक दिन डायरेक्टर को बुला लाओ यहाँ। बातें कर लेने में हानि क्या है ?"

"आया होगा, तो मै कर लूँगा उससे बातें। मुझे स्वयं इसकी चिता है। सबसे पहले हमें विवाह का निश्चय करना है। ताकि अकेली पाकर तुम्हें कोई ठग न ले।"

"यह तो काला महीना है। इसमें विवाह कैसे हो सकता है।"

"होम-यज्ञ से जब तुम्हारी शुद्धि हो सकती है, तो पुरोहितों को कुछ दे-दिलाकर काले महीने को भी उजला कर देंगे।"

लेकिन परुली राजी न हुई, लछमियाँ सोचने लगा—"यह क्यों अपने विचार में बदल गई इतनी शीघ्र !"

विवाह के बदले, परुली के मन में सिनेमा-कंपनी मे पदार्पण करने

की उत्सुकता बढ़ गई और उस डायरेक्टर के भय से लछमियाँ को तुरन्त ही परुली को लेकर बंबई को प्रस्थित हो जाना पड़ा।

बंबई के एक अच्छे होटल में उन्होने एक कमरा लिया। लछमियाँ प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए पर्याप्त धन लेकर चला था, परुली भी।

होटल मे पहुँचते ही लछमियाँ ने कहा—"विवाह यद्यपि हमारा नहीं हुआ है, तथापि हमे पति-पत्नी के ही रूप मे अपना परिचय देना होगा।"

"परुली सोच-विचार मे पड़ गई!"

"हम बढ़ते-बढ़ते इस कनक नगरी मे आ गए परी! यदि हमने प्रलोभनो में पड़कर पुरानी मित्रता भुला दी तो बस!"

परुली ने कहा—"लछम! एक्ट्रेस अपने रूप से आगे बढ़ती है, अपने नाम से भी तो? उसके नाम मे मोहिनी होनी चाहिए।"

"श्रीमती लछमा— क्या बुरा नाम है?"

नाक-भौं सिकोड़ कर परुली बोली—"इसमें मेरा नाम आना चाहिए न, पार्ट तो मैं करूँगी, फिर यह नाम न तो अक्षरों में अच्छा दिखाई दे रहा है न कानों मे ही मीठा है।"

"तो श्रीमती परी सही!"

"ऊँहूँ, श्रीमती—बोलने मे अधिक परिश्रम माँगता है—फिर कोई आकर्षण भी नहीं इसमे।"

"फिर क्या चाहती हो तुम?"

"कुमारी परी—सीधा और सरल, कुमारी परी। सिनेमा की नटी कुमारी ही होती है। तुम नहीं कहते थे एक दिन, कलाएँ विवाह के बंधन से बहुत ऊँचे पर उड़ा करती हैं। जब हमारा आपस मे प्रेम है तो लछम, मैं कुमारी परी के नाम से ही आगे बढ़ूँगी और मेरा आगे बढ़ना तुम्हारी ही प्रगति है।"

"कुमारी परी!" लछमियाँ ने विचारा—"सचमुच एक आकर्षण भरे व्यक्तित्व का आकर्षक नाम है!"

यही हुआ। कुमारी परी ने बीस हजार रुपये में अपले कंट्रेक्ट पर हस्ताक्षर किए। शूटिंग शुरू हुई और यह पेशगी विज्ञापन उसके तिरंगे चित्र पर छपा—"महान् आकर्षण! धुरपद फिल्म कंपनी का महान् चित्र—'इन्दर-सभा!' मुख्य अभिनेत्री कुमारी परी।"

बारह

. . . .

खेती छोड़ देने पर पंडितजी को ऐसा भान हुआ, मानो उनकी एक बहुत बड़ी विवशता तिरोहित हो गई ! रोटी की आवश्यकता मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है, उसके बन्धन से मुक्त हो जाने पर पंडितजी ने एक अद्भुत स्वतन्त्रता की साँस ली।

"भूख—कदाचित् हमारे शरीर के भीतर की कोई इतनी बड़ी आवश्यकता न थी आरम्भ में—न उसकी पूर्ति के साधन ही बाहर धरती पर इतने दुष्प्राप्य थे।" पंडितजी कहते—"हमने भूख के ऊपर स्वाद नाम की एक कृत्रिमता चमकाई और धरती पर हल चलाकर एक झूठे परिश्रम को उत्पन्न किया। संघर्ष बढ़ने लगा। भूमि पर अधिकार नाम की एक वस्तु चल पड़ी। मनुष्य की पाशविक शक्ति उसकी सहायक होकर बढ़ चली और उस पाशविकता को रंग दिया शस्त्रास्त्रों के उपयोग ने।"

"धरती पर अपने-आप उपजे हुए फूल-फलों की उपेक्षा की उसने। उसने श्रम या कर्म नाम की एक वस्तु की रचना की और खेत में बीज बोकर उसने अपने लिए दो मूर्खताएं उपजाईं !—वह आकाश के बादलों को देख-देखकर भाग्यवादी बना और वह खेती पर की बालों को निहारकर फलाकांक्षी बना ! उसके मन में अशान्ति-पर-अशान्ति बढ़ने लगी ! आवश्यकता-पर-आवश्यकता की बढ़ती होती गई।"

"आवश्यकता नाम की कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य ज्यों-ज्यों उन्हें कम करता जायगा त्यो-त्यों प्रकृति माता के निकट आता जायगा, त्यों-त्यों उसके मन की चिता और तन का रोग अपहृत होता जायगा। प्रकृति की ओर बढ़ना ही हमारा प्रकृत बढ़ना है। प्रकृति ही देवत्व है। हम देवत्व से ही बिछुडे हुए कण हैं। आवश्यकता का दूसरा नाम ही वासना या कामना है, वही देवत्व और हमारे बीच की दूरी है।"

"अभाव! और ये रात-दिन के नाना उपकरणों के अभाव! मँहगी! —यह विश्व-व्याप्त मंहगाई! क्या हमारी आवश्यकता—नितांत आवश्यकता ही इस यमज सन्तान की प्रसूता नहीं है? चाय को ही लीजिए, उसके बढते हुए उपयोग ने अपना मूल्य और अपनी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ा ली है क्या? साथ ही चीनी को भी मँहगा नहीं कर दिया? यह कितनी दयनीयता है मनुष्य के जन्म की। वह अपने स्वरूप को भूल गया। प्रातःकाल उठते ही जब तक उसे चाय की घूँट नहीं मिल जाती वह सूर्योदय के जन्म का विश्वास ही नहीं करता!"

चाय छोड़े हुए पंडितजी को कई वर्ष हो गए, दूध का स्वाद चखे भी और अब वह रोटी से मोर्चा लेने को सन्नद्ध हो गए। उन्हें अपनी विजय का पूरा-पूरा भरोसा हो गया। ऐसा जान पडने लगा मानो एक बेगार छूट जायगी, सिर का एक वृथा भार अपने-आप भूमि पर पडेगा।

अपने बोये हुए दो-चार खेतों पर देखकर जो सान्त्वना और सहारा पंडितजी अनुभव करते थे, आज वह प्रकृति के एक-एक पत्ते से उन्हे मिलने लगा। प्रकृति माता मानो अपने दोनों हाथ फैला ललकती हुई उनसे कह रही थी—"वत्स, मै तेरी सारी चिंताओ का हरण कर लूँगी, तेरे सारे क्षोभ शेष हो जायंगे। तेरा भोजन तेरी साँस के ही तुल्य तेरे लिए सहज और सुलभ हो जायगा। इस बार अब तू श्रम में नहीं आत्मा मे प्रतिष्ठित हो जायगा।"

प्रकृति के मातृत्व से अनुप्राणित पंडितजी पुलकित हो उठे। ग्राम के लिए नगर छोड़ दिया और प्रकृति के लिए खेती छोड दी—शुद्ध

एकांत की ओर उन्हें मार्ग दृष्टिगोचर हुआ, आवश्यकताओं के कम होने से उनका श्रम भी सीमित हो जायगा। बेंट लगाकर जिस धातु के स्पर्श से वह कुण्ठित होते थे वह बिलकुल छूट जायगा। अग्नि के त्याग से तवे से विदा ले ली थी, संग्रह के त्याग से बर्तनों से और अब खेतों के त्याग से कुदाल भी अछूतों में परिगणित हो गया।

"प्रकृति माता की जय!" पंडितजी पुकार उठे उनके समस्त ग्राम के बन्धन छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़े। उनकी विदा का दिन निकट आ गया। वह चाचाजी के पास पहुँचे।

"बेटा, श्रम ही तो जीवन है। उसका त्याग कैसे कर सकोगे तुम? क्या वह त्याग तुम्हारा जड़त्व न हो जायगा?"

"मैं विचार करूँगा चाचाजी, विचार—केवल विचार! विचार शक्ति है—जड़ता नहीं।"

"किसका विचार करोगे?"

"उस महाशक्ति का जिसने अपने को विचार से भी ऊपर छिपा लिया है।"

"खाओगे क्या?"

"घास-पात, कंद मूल, ऋषि-मुनि क्या खाते थे?"

"घास-पात का खाना तो पशुता है।"

"पशुता है दाने का संघर्ष, पशुता है सिक्के की कल्पना में दानों का संग्रह, पशुता है अधिकार के टुकड़ों में धरती का विभाजन! पशुता है लोहे के पहिए के नीचे मनुष्य के हाथ-पैर कुचलकर उसे पंगु कर देना!"

"तुमने तो पहिया क्या कुदाल को भी त्याज्य कर दिया। कंद-मूल खोदने के लिए किसका उपयोग करोगे?"

"पत्थरों का।"

"तब तुम धातु के युग से प्रस्तर युग की ओर जा रहे हो। और तुम इसे पीछे हटने के बदले आगे बढ़ने का नाम क्यों देते हो?"

"कलियुग से द्वापर, फिर त्रेता और फिर सतयुग। क्या यह आपका पौराणिक काल-मान एक-दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ नहीं है? फिर श्रेष्ठता की ओर जाना ही बढना क्यों नहीं है?"

चाचाजी निरुत्तर हो गए।

पंडितजी हँसकर बोले—"चाचाजी आपको मुझसे अधिक पौराणिक होना चाहिए था, हो गया हूँ मैं। मैं इस चतुर्युगी कल्पना को मनोविज्ञान सिद्ध सत्य मानने लगा हूँ। आवश्यकताओं का जाल ही इस युग की घोर तामसिकता है। आपसी राग-द्वेष, फूट कलह, मँहगी-अभाव, युद्ध-संघर्ष, छीना-झपटी, दलन-पोषण, संहार-अपहरण—ये सब इस कलियुग के पाप हैं। इस कलुष का ही नाम सभ्यता रक्खा गया है। द्वापर और त्रेता में कदाचित् सभ्यता कुछ पिछड़ी थी, भाप, बिजली की शक्ति अज्ञात थी—कलियुग की कालिमा उस समय रजोगुण की लालिमा थी और उस आदि युग सत्ययुग में मनुष्य प्रकृति के सन्निकट था। उसके अंग पर वस्त्राभूषण न थे, तो वह अधिक सुन्दर था, प्रकृति का वरद हस्त उसके ऊपर था। उसके खेती और मशीनें नहीं थीं, तो वह लालसा विहीन था, शान्ति और सत्य उसके सहचर थे। मैं कहता हूँ वह सतयुग की प्राकृतिकता मनुष्य के ध्येय की सबसे बड़ी उज्ज्वलता थी। सत्य-अहिंसा के लिए कोई प्रयास ही नहीं करना पड़ता था, वह स्वभावसिद्ध थी, उसके लिए न भाषण देना पडता था, न व्रत ही लेना पडता था—वह साँस में मिली-जुली थी।"

चाचाजी ने मनोयोग से सुनने के अनन्तर कहा—"पर महाकाल आगे को बढ़ रहा है, उसकी गति से टूटकर हमारा पीछे को चला जाना क्या अस्वाभाविकता नहीं है?"

"काल तो चक्कर में है चाचाजी! कलियुग के पश्चात् फिर सतयुग की बारी आ जाती है।"

"आयगी, जब आयगी, अभी तो कलियुग का पहला ही चरण है।"

"काल का हमारी मानसिकता के साथ निकट सम्बन्ध है। मनुष्य अपने मनोबल से सतयुग के भीतर जब चाहे प्रवेश कर सकते हैं। आवश्यकताओं के कारागार से छूटने पर उसके मन की कामना धुल जायगी। वह निष्पाप हो जायगा। भीतर निष्पाप होते ही कलियुग की घोर कालिमा में भी उसका जगत सतयुग में होगा।"

"दुनिया नहीं जा सकती तुम्हारे साथ।"

"एक सत्य आपसे निवेदन किया, मुझे इसके प्रचार का कोई मोह नहीं है। मैं अपने विचार के अनुगमन का अकेला यात्री हूँ, मै अकेला ही वहाँ जाऊँगा चाचाजी!"

"तुम कहाँ जाओगे?"

सौभाग्य से आज बादल बैठ गया है। हिमालय की पूरी श्रेणी को पाकर संध्या चमक उठी है। वह देखिए, त्रिशूल की ऊँची चोटी की स्पर्धा करता हुआ वह दुर्गा-मंदिर का शिखर मुझे बुला रहा है।"

"दुर्गा-मंदिर ही क्यों फिर? तुम्हें प्रकृति की उपासना करनी है, प्रकृति क्या सर्वत्र नहीं है? नगर के घोर कोलाहल और प्रतियोगिता के बीच में भी एक प्राकृतिकता क्यों नहीं है?"

"त्याग की जिस सीमा पर मै पहुँच चुका हूँ, वह मुझे उस शिखर पर ले जाना चाहता है। मैं खेती का सहारा छोड़ चुका हूँ, वहाँ खेती नहीं होती।"

"घास-पात क्या यहाँ नहीं होते?"

"संसर्ग का दोष जो लग जायगा?"

"तुम छूत-छात कभी नहीं मानते थे?"

"अब मानने लगा हूँ।"

चाचाजी ने चकित होकर पूछा—"अब मानने लगे हो? तुम तो कहते थे मनुष्य की छूत मानवता का सबसे बड़ा कलंक है।"

"बात ऐसी है मनुष्य के रहन-सहन से उसके विचार बनते हैं। विचारों से बनता है उसका भाव। जगत विरोधी भावों से बसा हुआ

है। भावों का वैषम्य ही हमारे विचार, भाषा, रहन-सहन और संस्कृति की भिन्नता है। सम भाव की संगति लाभदायक है और विषम भाव की संगति से हमारी प्रगति मे बाधा पहुँचती है।"

"मै भी तो पहले ऐसा ही कहता था।"

"छूत का अर्थ मनुष्य की घृणा तो अब भी मैं नहीं मानता हूँ। हाँ उसके कुभाव से अवश्य बचना चाहता हूँ।"

"दुर्गा के मंदिर की कौन आवश्यकता पडी फिर ?"

"सुर और असुर के बीच का भेद जागने पर फिर दुर्गा की ही शरण मे जाना पडता है। आज अच्छा दिन है, आज ही जाऊँगा।"

"कितने दिन रहोगे ?"

"कुछ ठीक नहीं कह सकता।"

"नगर मे जाकर माता-पिता से भी तो पूछ लो।"

"उनकी सम्मति से ही यहाँ आया था। दुर्गा-मंदिर का पथ यहाँ से आगे है। बीच ही मे लौटकर फिर वहाँ कहाँ जाऊँ। आपकी आज्ञा ले ही रहा हूँ। अच्छे काम मे उत्साह बढाना चाहिए आपको। प्रकृति का विरोध अवश्य भयकारी है, उसका विश्वास और उसके अनुसरण मे कोई भय नहीं है। वह सदैव ही मंगलकारी है।"

"परन्तु तुम्हारा लक्ष्य क्या है ?"

"मनुष्य-जन्म के शुद्ध उद्देश्य की प्राप्ति।"

"अर्थ नही खुला कुछ भी। कदाचित् तुम सिद्धियो के फेर में पड़ गए हो।"

"नहीं, चाचाजी !"

"सिद्धियाँ, मनुष्य के मार्ग की बाधाएं हैं। उनसे हमें सचेत रहना चाहिए। मनुष्य समाज का ही अंग है। समाज मे रहकर ही तुम क्यों गीता के मानव-धर्म का अनुसरण नही करते। इस लोक और परलोक दोनो की मुक्ति का मार्ग उसमे खुला हुआ नहीं है क्या ?"

"गीता कर्मयोग का प्रदीप है। मैं कर्मों को छोड़ चला।"

"जा कहाँ सकते हो ?"

"तर्क से ऊपर जा रहा हूँ ? इसी से नहीं कह सकता किधर जा रहा हूँ। लक्ष्य क्या है, उद्देश्य क्या है ? इसका विवेचन नहीं कर-सकता।"

"सप्तशती की आवृत्तियाँ करोगे क्या वहाँ ?"

"सब-कुछ छोड़ देने पर फिर कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती।"

"तुम्हारे मस्तिष्क मे कोई विकृति न हो जाय, यही भय है मुझे।"

"मैं किसी फल में आसक्त नहीं हूँ। मन में जब कोई विकार नहीं है, तो मस्तिष्क में ही क्यों फिर वह होगा ?"

"अभी जल्दी क्या है। कुछ दिन तो यहाँ रहो, जैसे तुम चाहते हो ऐसे ही रहो। तुम्हारे मार्ग मे हम किसी प्रकार विघ्न न डालेंगे।"

परन्तु पंडितजी किसी प्रकार न माने। और उसी समय जाने को तैयार हो गए।

"कंबल और कुछ कपडे तो रख ले जाओ। एक लोटा भी तो।"

"यह सब प्रकृति माता का अविश्वास सिखाते है।"

"इस प्राकृतिकता में बहुत दिन तक रह चुके हो।"

"जो वस्त्र अंग में हैं, उन्हे तो ले ही जा रहा हूँ। और अधिक भार कुछ भी न बढ़ाऊँगा। लोटा नहीं ले जाऊँगा। मैं प्रस्तर-युग की ओर जा रहा हूँ।"

"तुम्हारे ही हाथ की कती हुई पंखी है यह। इसे कंधे पर रख लेने से कोई भार नहीं बढ़ेगा तुम्हारा।" कहकर चाचाजी ने पंखी उन्हें दी।

उस आग्रह को शिरोधार्य कर पंडितजी चाचा और चाची से विदा लेकर दुर्गा-मंदिर के पथ में प्रस्थित हो गए।

पूरे एक दिन का मार्ग था दुर्गा-मंदिर का वहाँ से। नौ हजार फीट की ऊँचाई पर वह मंदिर सुशोभित था। आसपास कोई ग्राम नहीं थे। घने वन के बीच में नाना प्रकार की वनस्पतियों और जल

के स्वच्छ सुशीतल झरनों से परिपूर्ण था वह स्थान। उत्तर में संध्या और प्रभात के रंगों में नाना प्रकार की शोभा धारण करने वाली धवल हिमालय की श्रेणियाँ थीं, पूर्व से पश्चिम तक अपनी उच्चता को सँभाले हुए। शेष दिशाओं में दूर-दूर तक छोटे-छोटे पहाड़ों के मनोरम दृश्य थे। कहीं घाटियाँ, कहीं वन, कहीं चमकती हुई नदियों की रेखाएं, कहीं हरे और पीले बिछे हुए खेत, छोटे-छोटे ग्रामों के मंडल।

पंडितजी ने वह मन्दिर इससे पहले कभी नहीं देखा था। कृत्रिमता, आवश्यकता, अभाव और कामना से बहुत ऊपर प्रकृति के उस शुद्ध अविश्वास को देखकर वह सोचने लगे—"यही तो मेरी परिकल्पित भूमि थी, इतने दिन तक मै क्यों नहीं आ सका यहाँ?"

तीन ओर से तीन दीवालें थीं उस मन्दिर की। स्थापत्य का कोई आकर्षण नहीं। पंडितजी कहने लगे—"स्थापत्य मनुष्य की कारीगरी होने से एक कृत्रिमता है। कला श्रीमान् का दंभ है और कलाकार का मोह। दुर्गा का यह मन्दिर इन दोनो की छाया से विमुक्त है। उसे ऐसा होना ही उचित था। प्रकृति को कोई सजा-सँवार नहीं सकता।"

मन्दिर की दीवारों पर कोई छत नहीं थी। मुक्त प्रकृति का आकाश ही उसकी छत थी। पंडितजी यह देखकर विचारने लगे—"सर्वशक्तिमयी देवी के खिलवाड ही तो है ये वर्षा-आतप, ओले और हिम! उसकी लीला से उसकी रक्षा का विचार मूर्खता नहीं तो क्या है। फिर ये दीवालें?" पंडितजी कुछ क्षण सोचकर बोले—"यह साधक के विचार को बाह्य-जगत में भटक जाने से रोकते होंगे।"

मन्दिर मे न कोई द्वार था, न शृङ्खल। भीतर बाहर के साथ जुड़ा हुआ एक रूप! प्रकृति ही देवी है, देवी ही प्रकृति। जिसके मन मे विश्वास उपज जाय, उसके लिए सहज प्रवेश। न कोई प्रतिबन्धक, न कोई प्रतिबन्ध!

मन्दिर के भीतर अपने स्वाभाविक रूप में स्थित एक पत्थर था।

मूर्त्तिकार की छेनी से अछूता, किसी की अनुरूपता अंकित नहीं की गई थी उसमें। साधक के मन की भावना अपनी कल्पना के अनुकूल चाहे जैसा रूप देख ले उसमें। प्रतिमा की इस स्वाभाविकता ने पंडितजी को आकृष्ट किया।

मन्दिर के पुजारी ने पंडितजी से कहा—"बड़ी देर में आए तुम। ऐसे असमय में कोई भी नहीं आता यहाँ। दिन डूबना चाहता है अब।"

"क्या चिन्ता है। कल फिर सूर्योदय हो जायगा।"

पुजारी ने अकचकाकर पंडितजी के मुख की ओर देखा—"इस शिखर पर रात में कोई भी नहीं रहता।"

"क्यों नहीं रहता ? क्या तुम्हारी ऐसी आज्ञा नहीं है ?"

"मेरी क्या आज्ञा ? जगन्माता का मन्दिर है यह। चाहे जो रहे। पर जाड़ा बहुत है, हिमाचल की हिमसिक्त पवन बहती है रात को। शून्य एकान्त है, डरते हैं लोग।"

"माता के निकट भय कैसा ?"

"सिंह आता है यहाँ रात को।"

"माता का वाहन है सिंह ! उससे कैसे भय ?"

"तुम अद्भुत मनुष्य दिखाई दे रहे हो जी ! जल्दी से कुछ पूजा-पाठ करना हो तो मैं करा देता हूँ तुम्हें। फिर मुझे भी अपने गाँव को लौट जाना है।"

"तुम नहीं रहते यहाँ ?"

"नहीं, मैं नित्य घर चला जाता हूँ। मैं तुम्हें भी लौट जाने की सलाह देता हूँ। फूल चढ़ा आरती कर लो माता की। पाठ करना हो तो वरण दे दो मुझे, कल को अष्टमी है, कर दूँगा पाठ।"

"मेरी पूजा में तो बड़ी देर लगेगी।"

"घंटा, आधा घंटा ?"

"नहीं जी।"

"पखवारा, महीना तब क्या ?"

"मै यही रहने को आया हूँ पुजारी जी !"

"किस बल पर रहोगे तुम यहाँ ? साथ मे कोई और भी आ रहे हैं क्या ?"

"नहीं, एक पक्षी भी नहीं।"

"कधे पर केवल एक पंखी ही बस ? और कुछ सामान नही। तुम्हें डर नहीं लगता, तो क्या भूख भी नहीं सतायगी—जाडा भी नही व्यापेगा ?"

"ये सब एक ही चीज के तीन नाम हैं।"

पुजारीजी ने सिर से पैर तक पंडितजी को पढा।

पंडितजी बोले—"रात को कोई नहीं रहता यहाँ ?"

"नहीं कोई नहीं रहता।"

"ये धर्मशालाएं किसलिए हैं ?"

"नवरात्रों में लोग यहाँ पूजा-अर्चना करने सदल-बल आते है, वहीं रहते है।"

"पुजारीजी, नव का गणित भूलकर यदि हम उस शब्द मे काल का अर्थ लगा लें, तो क्या नित्य ही नवरात्र नहीं है ?" मैं तो यहीं रहने के लिए आया हूँ। उस धर्मशाला में धुँवा आ रहा है। कोई रहता है वहाँ ? कौन ?"

"अरे उसकी न पूछो एक पागल है—गूँगा।"

"रात में यहीं रहता है वह ?"

"हाँ।"

"कौन है ?"

"एक तुम्हारे ही-सी हठ वाला और कौन ? एक इतिहास होगा उसके पीछे। अधिक नहीं जानता मै। सच-सच नहीं बताया उसने किसी को भी कि वह कहाँ का रहने वाला है। हमें नहीं ज्ञात, उसके घर पर भी कोई है या नही। तीन साल हुए कार्तिक की नवरात्रियो में

प्रतिपदा को ही आ गया था यह यहाँ, पुरश्चरण के लिए। नवरात्रियों-भर इसने व्रत किया, चाय-दूध की कौन कहे, पानी का छींटा भी जीभ पर नहीं रक्खा। ऐसे ही तुम्हारे-जैसा—कंधे पर एक कम्बल—न पैर में जूता, न सिर पर टोपी। काँख में एक दुर्गा सप्तशती की पुस्तक अवश्य थी इसके, अब भी है। नवरात्रियों-भर उसी का पाठ करता रहा दिन-भर, कोई-कोई कहता था रात-भर भी बैठा जप और ध्यान करता रहता था। विजयादशमी के दिन व्रतोद्यापन से पहले ही उसका कंठ-स्वर उड़ गया और वह गूँगा हो गया! कहाँ की पूजा, कहाँ की आरती? सारा जन-समूह इसी का कौतुक देखने लगा। पूरी शक्ति लगाकर यह मुख मे उच्चारण उपजाना चाहता, नहीं उपजा। कभी ताली बजाता, कभी नाचता, दौड़ता-कूदता। कभी हँसता और कभी धाड मार-मारकर रोता। सभी कहने लगे क्रिया बिगड़ गई इसकी। तुम्हें भी इसके उदाहरण से कुछ सीख लेनी चाहिए।"

"मै क्या सीख लूँ? मैं कोई भी पार्थिव कामना लेकर नहीं आया हूँ पुजारीजी!"

"फिर आने का मतलब? मन कामना से विहीन होता है कहीं?"

"विश्वास हो तो हो कैसे नहीं सकता? पूजा, पूजा के लिए? पूजा ही साधना और पूजा ही सिद्धि! साधना और सिद्धि दोनो का एकीकरण कर देने से फल मूल में ही समा जाता है पुजारीजी! सर्प के मुख उसी की पूँछ! अहंकार को दलित कर जब तक माता के चरणों में असहाय शिशु-सा लोटता रहूँगा, मुझे कोई भय नहीं।"

"हूँ, तुम्हें कोई भय नहीं!" पुजारी ने पंडितजी के साहस को देखकर कहा—"घर कहाँ है तुम्हारा?"

"नगर और ग्राम दोनो से दूर।"

"पास-पडोस के किसी गाँव में इष्ट-मित्रता, जान-पहचान नहीं है, तो चलो मेरे गाँव मे चलो। कल समय से आकर पूजा-पाठ कर लेना। दो रोटी आज वहीं खाकर रात काट लेना।"

"रोटी नहीं खाता मै। शाकाहारी हूँ। परन्तु पुजारीजी, रात के दुर्भेद्य अंधकार ही मे तो माता चमकती है, उसका भय मानकर भाग जाऊँ ? नहीं, मैं तो यहीं रहने को आया हूँ।"

"चलो, फिर एक से दो हो गए तुम। एक-एक का सहारा। मुझे तो देर हो रही है। जो कुछ कहना था कह दिया। आगे तुम जानो तुम्हारा क़ाम जाने।" पुजारीजी ने मंदिर का दीप जलाया, आरती की। कर्त्तव्य शेष कर कुछ पोटलियाँ कंधे पर रखते हुए कहा—"दो-चार आलू हैं मेरी पोटली में, पगले ने धूनी जला रक्खी है। भूनकर खा लेना। माता के मंदिर मे कैसे भूखे ही सो जाओगे ? पगला तुम्हे कुछ दे या नहीं, कोई ठीक है ?"

"नहीं पुजारीजी, मुझे जो कुछ खाना था, खा चुका दिन ही मे। मैं एकाहार का ही अभ्यासी हूँ।"

पंडितजी की इस विरक्ति से प्रभावित होकर चले गए पुजारीजी। और पंडितजी हिमालय की उज्ज्वलता पर सूर्य की अंतिम किरणों की अठखेलियाँ देखने लगे। शुद्ध और शांत वातावरण ! सूर्य की कनक किरणें हिमालय के शिखरो से भी उडकर आकाश में खो गईं। धरती पर संध्या व्याप्त हो उठी ! कुछ चिडियें उस एकांत को शून्यता मे स्वर के स्पंदन उपजाकर अपने-अपने नीडों में समा गईं। जीवन का शंख केवल तीव्र और तीक्ष्ण पवन के झोंके फूँक रहे थे। और कुछ आभास मिल रहा था धर्मशाला की ओट मे प्रकाशित अग्नि की ज्वाला में।

पंडितजी उधर बढ़े। दूर से उन्होंने देखा, मोटे-मोटे लकडी के दो गिंडे जलाकर एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य अर्द्धनग्न अवस्था में आग ताप रहा है। दूर ही से पंडितजी ने उस व्यक्ति के लिए हाथ जोड़े।

गूँगा तुरंत ही उठ खडा हुआ। उसकी मुखाकृति से प्रकट हुआ, मानो उसका कोई बिछुडा साथी अचानक आ गया हो। उसने दौडकर पंडितजी का हाथ पकड़ा और उन्हे अपने आसन पर खींच लाया।

पंडितजी उठकर भागे—"भाई, मै अग्नि-सेवन नहीं करता।"

"तूँ ऽ ऽ?" गूँगे के मुख पर एक आश्चर्य अंकित हो गया। सुनकर समझ लेता है वह, ऐसा जान पड़ा। उसने अपने नीचे बिछा हुआ टाट का टुकड़ा उठाकर आग से दूर जहाँ पंडितजी खड़े थे, वहाँ बिछा दिया और पंडितजी को बिठा दिया।

धर्मशाला के बरामदे में उसने आग जला रक्खी थी। एक कमरा भी पूरे उसी के अधिकार में था, ऐसा जान पड़ा। बाहर की ज्योति से कमरे के भीतर की अस्त-व्यस्तता कुछ दिखाई पड़ती थी।

गूँगा कमरे के भीतर जाकर एक पत्ते में रक्खा हुआ कुछ हलुवा उठा लाया और पंडितजी के सामने रखकर, हाथ के संकेत मे कुछ मुख की टूटी-फूटी ध्वनि मिलाकर मानो बोला—"खा लो।"

पंडितजी ने पत्ता दूर खिसकाकर कहा—"मैं खेती का उपजा हुआ नहीं खाता, न आग पर पका हुआ ही।"

गूँगे ने कमर में दोनों हाथ रखकर अग्नि के क्षीण प्रकाश में कुछ देर पंडितजी को तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। फिर उनकी पीठ ठोककर हलुवा उठाकर आग में डाल दिया। वह हर्षातिरेक मे नाचने लगा।

फिर वह अपने कमरे के भीतर गया। कुछ अँधेरे मे टटोलकर काँख मे दबा लाया। पंडितजी का हाथ पकड़ उन्हें मंदिर में ले गया। अपनी मंद्र मधुर ज्योति मे मंदिर का दीपक जगमगा रहा था। गूँगे ने देवी की प्रतिमा के सम्मुख पंडितजी को ले जाकर बिठा दिया। पुजारी रात के जाडे से बचाने के लिए देवी को एक कपडा ओढ़ा गया था। गूँगे ने वह कपड़ा खींचकर एक ओर फेंक दिया। उसने अपनी काँख से एक चीथडे में लिपटी हुई फटी और मैली दुर्गा सप्तशती की पुस्तक निकालकर पंडितजी के सामने रख दी। संकेत से जताया कि इसका पाठ करो।

"पाठ से क्या होगा? माता अधिक हल्ला मचाने वाले बालक को थप्पड़ लगा देती है।" पंडितजी ने हँसकर कहा।

गूँगे ने अपने होठों पर हाथ रखकर कदाचित् यह सुझाया कि चुपचाप पाठ करो।

पंडितजी गूँगे की आज्ञा मानकर चुपचाप पाठ करने का अभिनय करने लगे। गूँगा, हर्ष की पराकाष्ठा में चिल्लाता हुआ बाहर से मंदिर की पंद्रह-बीस परिक्रमा कर न जाने कहाँ चला गया।

धीरे-धीरे पंडितजी का पूजा मे मन लग गया। वह बडी तन्मयता से पाठ करने लगे। प्रायः बीस मिनट के अनन्तर ज्यों ही पंडितजी ने मन मे कहा—"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण—" दीपक निर्वापित हो गया।

देवी के जाडे की कल्पना सहज थी पुजारीजी के लिए। उनके भोजन की सामग्री भी ज्यो-की-त्यों वापस मिल जाती थी उन्हे—उसमें भी वह क्या घटाते-बढ़ाते ? फिर वह राशन, महँगी और अभाव का युग ! देवताओं को भी तो इस संकट मे कुछ कटौती करनी उचित है। नींद आने-भर को उजाला चाहिए ! आँख लग गई तो फिर क्या प्रकाश, कैसा अन्धकार ! पुजारीजी कहते—"अपव्यय मानव-द्रोह है। क्यों न इस तेल से पुजारी की कढ़ाई बोल उठे—'छ्यौँऽऽ !"

पंडितजी ने स्मृति की सहायता से श्लोक पूरा किया—

"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥"

बाह्य जगत मे निशा का घनीभूत अन्धकार भीतर मन्दिर में घँस पडा ! कभी पंडितजी को कंठाग्र थी तो सही वह सप्तशती। वाणी की सहज साधना से जब वह अजपा की ओर बढ़े, तो माता को पुकारने के बदले उसकी आहट पर उनके कान खुल गए। उसको पुकारने से उसकी सुनने में अधिक रुचि हो गई।

पंडितजी गूँगे की धर्मशाला की ओर गये। आग कुछ धीमी पड़ गई और गूँगा उसके निकट ही पडकर सो गया था।

पंडितजी के मुख से फिर निकल पड़ा—

"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

तामसी रात्रि प्रकृति की निद्रा ही तो है। पहाड़ों की गहराई में वह अन्धकार-निद्रा जाग उठी थी। पंडितजी खड़े-खड़े उस अँधेरे में धँसकर विचारने लगे—"इस निशा की ओट से कौन पुकार रहा है? वही छायामयी कृष्णा! उसने भय भी दिखाया है और वह हाथ उठाकर अभय की चेतना भी दे रही है। वही माया—महामाया, उसने पग-पग पर मृत्यु छिपा रखी है और वही कहती भी है कि कूद पड़! कितना विकराल और कैसा सुन्दर इसका रूप है! प्रकाश में छलना है, मिलना तो अन्धकार ही में है। सब उजाले ही मे ढूँढ़ते हैं।"

"अन्धकार! सूचीभेद्य अन्धकार! यह अन्धकार ही माता का कालीत्व है। इसमें छिप जाना ही उसका दर्शन है। भय कितना सघन हो उठता है इस रात्रि मे—वह तो एक परीक्षा है। हे मेरे दिन के संशय! तुम निशा के विश्वास में बदल जाओ। वह कदापि भयावनी नहीं है। चल देख तो आ कुछ दूर तक। सिंह और बाघ! इन हिंस्र पशुओं से कम हैं ये मेरे ही मन में रहने वाले लोभ और क्रोध के दो पशु! चल तो सही यह अंधकार बुला रहा है तुझे। फेंक दे पंखी!" कहते हुए पंडितजी ने पंखी उतारकर भूमि पर रख दी। ठंडा पवन उनके एक-मात्र खद्दर के कुरते को छेदकर उनके अंग का स्पर्श करने लगा।

वह उस गूँगे के निकट आये। उन्होने उसे देखा—"कौन है यह! कमर मे एक लँगोटी और कंधे पर एक अँगोछा! शीत का इसे जब कोई भय नहीं है, तो फिर इसने आग क्यों जला रखी है? अपनी ही ओट में इसने दर्शन को छिपा लिया है। जहाँ माँ नहीं है वहाँ खोज रहा है यह उसे?"

गूँगा सोए-ही-सोए हँसने लगा।

"गहरी नींद में न जाने क्या सपना देख रहा है ! हे माँ, इस साधक से क्यो कुपित हुई हो तुम ? क्या अपराध हुआ है इससे तुम्हारा ? क्यो इसकी वाणी छीनकर तुमने इसे पंगु कर दिया । क्यो इसको तर्कविहीन करके पागल बना दिया ? जिसको अभिशाप-रूप में हम देख रहे हैं, क्या वह तुम्हारा वरदान है ? वाणी और तर्क की दो बाधाएँ निःशेष कर तुमने उसे अपने निकट ले लिया है क्या ? केवल एक सहारे के लिए इसने आग जला रखी है । माता की गोद में कौन सहारा अपेक्षित है ? जाडे को तो नही कदाचित् हिंस्र पशुओं को डराने के लिए इसने उजाला कर रखा है । जो दूसरे को डराता है वह स्वयं भयभीत है । सो रह, तू अपने ही मोह की कालिमा में सो रह । मुझे कोई भय नहीं है—मैं इस निशा के अंधकार में कूद जाऊँगा—कहाँ है सिह ? जहाँ सिंह है उसी की पीठ पर माता है ।"

पंडितजी वन की ओर जाने लगे। गूँगा एकाएक जाग गया, दौडा और उसने पंडितजी का हाथ पकड लिया । उसकी चेष्टा और कोलाहल से यह स्पष्ट था कि वह पंडितजी को वारण कर रहा था ।

पंडितजी रुक गए । हँसकर बोले—"मैं तो समझा था तुम सो गए !"

गूँगा हँसने लगा जोर-जोर से । उसने अपने निकट कुछ पत्ते बिछा दिए, उस पर एक बाघ की छाल डाल दी और पंडितजी को उस पर सो जाने का संकेत दिया ।

"मै आग का सहारा नहीं मानता," कहकर पंडितजी अपनी शय्या को दूर खिसका ले गए ।

गूँगा भी वहीं पहुँच गया और पंडितजी का हाथ पकडकर एक ओर सो गया ।

रात-भर पंडितजी ने उस पगले की पकड में कोई शिथिलता नहीं पाई और वह उसकी सुप्तावस्था की जागरूकता से चकित हो उठे ।

"मेरे मन के विचार को सोते हुए भी क्योंकर इसने जान लिया ?"